

जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त

लेखक

अनन्त श्री विभूषित नारायणतीर्थ जी

दण्डी स्वामी महाराज के शिष्य

श्री रामतीर्थ जी दण्डी स्वामी

लेखक का निवास

सर्दी में— सोनियां मन्दिर, पुराना बाजार, लुधियाना

गर्मी में— रामभवन, भूपत वाला, हरिद्वार

प्रकाशक

परम धार्मिक श्री मुरारीलालात्मज राज (सोनी)

सोनियां मोहल्ला, पुराना बाजार, लुधियाना

पुस्तक प्राप्ति स्थान

श्री पं० अमोलकराम ज्योतिषी

सोनियां मन्दिर, पुराना बाजार, लुधियाना

(वि० सं० २०२८, शाका सं० १८९३, ई० सन् १९७१)

पहली बार २००० (दो सहस्र)

सूचना

१. डाक-व्यय मात्र १ रु० ३० पैसे भेजने से पुस्तक मिल जायेगी

२. पत्र का उत्तर जवाबी कार्ड भेजने पर ही मिल सकेगा।

संस्कृत-विद्या के तथा अध्यात्म-विद्या के परम प्रचारक श्री १०८ स्वामी गोविन्दप्रकाश जी महाराज वेदान्ताचार्य की निष्पक्ष-यथार्थभाषिणी

सम्मति

जीवन-मुक्त और विदेह-मुक्त

इसके लेखक श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ दण्डी स्वामी रामतीर्थ जी महाराज एक महापुरुष हैं। उनके सौम्य स्वभाव तथा सरल प्रकृति साधु-समाज में प्रसिद्ध हैं। इस 'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त' ग्रन्थ के पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि वर्तमान के वेदान्त-प्रेमियों के लिये यह ग्रन्थ अत्यधिक उपादेय है। कारण कि सरलता भावग्राह्यता से संयुक्त यह ग्रन्थ विचार की गम्भीरता से परिपूर्ण है।

मेरी तो यही सम्मति है कि वर्तमान युग में लेखक जितना भी सरल लेख तथा अनुवाद अथवा निजी भाव प्रकट करेगा जनता उतना ही अधिक लाभ उठा सकेगी। इस ग्रन्थ से पूर्व भी महाराज जी ने वेदान्त-विषयों को लेकर १५ बड़ी-छोटी पुस्तकें लिखी हैं—जोकि उत्तरोत्तर विचारों की सरलता से सर्व साधारण के लिये महान् उपयोगी हैं।

स्वामी रामतीर्थ मिशन (रजि०)
राजपुर, (देहरादून)

परमाध्यक्ष—स्वामी गोविन्दप्रकाश (जी) वेदान्ताचार्य
२३-६-७१

सर्व-शास्त्र-निष्णात श्री० पं० प्रवर त्रिलोकधर जी (द्विवेदी) की पुस्तकाशय-प्रबोधिनी

भूमिका

अनादि अनिर्वचनीय माया से विलसित यह संसारवृक्ष प्रातीतिक होता हुआ भी अनादि काल से प्राणियों के सुख-दुख रूपी फल का सर्जन करता ही जा रहा है तथा अनन्तकाल तक करता ही रहेगा। 'नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा' संसारवृक्ष की छाया में प्राणी को वाध्य होकर सुख-दुख का अनुभव करना ही पड़ता है। इसकी छाया सत्व, रज, तम इन त्रिगुणात्मक दोषों से इतनी विषाक्त है कि यहां जीव अनेकों तरह के प्रयत्न करने पर भी शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता है। यही कारण है कि शास्त्रों में इस संसार-वृक्ष के उच्छेदन के लिए अनेकों उपायों का प्रतिपादन किया है। भगवान ने स्पष्ट ही कहा है—'असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा' अर्थात् असंगरूपी कुल्लाड़े से इस संसार-वृक्ष को काटकर अपने परमपद—पूर्ण शान्ति स्थान का अन्वेषण करना चाहिए।'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः' श्रुति में भी सुना गया है 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' सर्व-संसार-धर्मातीत आत्माका अन्वेषण करना चाहिए तथा उसके जानने की इच्छा करनी चाहिए। आत्मा के अन्वेषण के साधन शास्त्रों में श्रवण मनन तथा निदिध्यासन बताए गए हैं। श्रुतिवाक्यों के तात्पर्य निश्चय के बिना आत्मनिश्चय सम्भव नहीं है। इसलिए अकारण करुणा वरुणालय भगवान वेदव्यास ने 'ब्रह्म-मीमांसा' नामक ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियों (उपनिषदों) के तात्पर्य के निर्णायक शास्त्र का प्रणयन किया। दुष्तार्किक द्वैतवादियों द्वारा ब्रह्ममीमांसा के सूत्रों की स्वकपोल कल्पित दुर्व्याख्या से जिज्ञासुजन पथभ्रष्ट होकर पुरुषार्थ-च्युत न हों, इसलिए पूज्य भगवत्पाद श्री

शंकराचार्यजी ने ब्रह्ममीमांसा पर श्रुति-सूत्र-तात्पर्य-निर्णायक भाष्य लिखकर मुमुक्षुजनों के लिए अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

ब्रह्ममीमांसा शास्त्र भी दुरूह तर्क एवं मीमांसान्याय से संकुल है, अतः साधारण जिज्ञासु इससे पूर्णलाभ नहीं उठा सकते हैं। यह देखकर श्री १०८ दण्डी स्वामी रामतीर्थ जी महाराज ने ब्रह्ममीमांसा के पदार्थों को संक्षिप्त एवं सरल रीति से सुगम बनाने के लिये इस प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त' में वेदान्त दर्शन के प्रमुख विषयों का युक्ति-पूर्ण विचार किया है। मैं समझता हूं कि इस स्वल्पकाय पर अत्यन्त उपयोगी पुस्तक को पढ़कर आत्मजिज्ञासु पुरुष बहुत लाभ उठा सकते हैं।

प्रिय जिज्ञासु महाभागाः! 'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त' पुस्तक के पहले भाग में आत्मा का स्वरूप आदि ८ विषयों पर विचार किया गया है। दूसरे भाग में अन्य विषयों के साथ छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें प्रपाठक की विस्तृत मीमांसा की गई है। आठवें प्रपाठक में दहरविद्या और इन्द्रद्वारा प्राप्त की हुई इन्द्रविद्या का वर्णन है। ये दोनों ही विद्याएं पर एवं अपर रूपा हैं, अर्थात् निर्गुण ब्रह्म-विषया और सगुणब्रह्म-विषया हैं। इनमें कोई भी एक विद्या केवल पर रूपा ही अथवा केवल अपर रूपा ही नहीं है। इसी आठवें प्रपाठक के आधार पर ब्रह्मसूत्र में चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद की रचना हुई है। इस पाद के 'संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' ॥१॥ इत्यादि चार सूत्रों में पूर्वोक्त दोनों विद्याओं में वर्णित जो परविद्या है उसके फलस्वरूप संप्रसाद नामक आत्मज्ञानी की जीवन्मुक्ति का निरूपण किया गया है। ब्राह्मेण जैमिनि-रुपन्यासादिभ्यः ॥५॥ इस सूत्र से लेकर आगे के सूत्रों में दोनों विद्याओं में वर्णित जो अपर विद्या है उसके फलस्वरूप संप्रसाद नामक जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी को सत्यकाम आदि ईश्वरभाव की

प्राप्ति और ब्रह्मलोक की प्राप्ति बताई गई है। क्योंकि भाष्य में जिस प्रकार 'एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय०' इस इन्द्र-विद्याकी श्रुति को 'संपद्याविर्भावः' ॥१॥ इस सूत्र की जननी मान लिया है—ठीक उसी प्रकार ब्राह्मेण जैमिनि० ॥५॥ इस सूत्र में स्थितमेतत्, 'अथ य एष संप्रासादोऽस्मात् शरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतद-मृतमयमेतद् ब्रह्मेति' (छा० ८।३।४) इत्यात्ममात्रेण रूपेणाभि-निष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेण इति, इस भाष्य में दहरविद्या की इस श्रुति को भी "संपद्याविर्भावः ॥१॥ इस सूत्र को उत्पन्न करने वाली स्वीकार किया है।

जिस प्रकार भाष्य ने 'स यदि पितृलोककामो भवति,'संकल्पा-देव०' (८।२।१) इस दहरविद्या की श्रुति को संकल्पादेव तु तत् श्रुतेः ॥८॥ इस सूत्र के जन्म देने वाली मान लिया है उसी प्रकार भाष्य ने 'मनसैतान् कामान्पश्यन् रमते (छा० ८।१२।५) 'य एते ब्रह्मलोके०' (८।१२।६) इन इन्द्रविद्या की श्रुतियों को अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥ इस सूत्र की आधार भूत मान लिया है। इस प्रकार इन्द्रविद्या में भी अपरविद्याका प्रतिपादन है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ये दोनों ही विद्याएं पर अपर रूप हैं। इसलिए इस पाद में संप्रसाद नामी आत्मज्ञानी की जीवन्मुक्ति का ही वर्णन किया गया है। इसमें विदेहमुक्ति का प्रकरण नहीं है।

इस पुस्तक में विदेहमुक्ति के स्वरूप का जैसा वर्णन ग्रन्थ-कार ने किया है, ऐसा वर्णन अन्य किसी प्राकृतभाषा के ग्रन्थ तथा हिन्दी भाषा के ग्रन्थ में नहीं है। स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है यह शास्त्रों का आलोचन करके शास्त्र-सम्मत लिखा है। इस में कोई भी पदार्थ कपोल-कल्पित एवं आग्रह-गृहीत नहीं है। श्रुति-तात्पर्य से जो अर्थ उपलब्ध हुआ

है वही वर्णित है। पाठक गण इस पुस्तक को पढ़कर उपर्युक्त विषयों पर स्वयं विचार करेंगे। इस पुस्तक में वर्णित पदार्थों में मेरी पूर्ण सहमति है, मैं इसको सादर स्वीकार कर स्वामीजी के प्रति बड़ी कृतज्ञता प्रकट कर रहा हूँ। स्वामीजी से प्रभावित होकर उनके चरणों में शतशः प्रणामाञ्जलि समर्पित करता हुआ विराम ले रहा हूँ। अन्त में एक बार पुनः स्वामीजी के प्रति श्रद्धा प्रकट करता हुआ उन्हें प्रणामाञ्जलि प्रस्तुत कर रहा हूं। शम्।

त्रिलोकधर (द्विवेदी)

काव्य-व्याकरण-वेदान्ताचार्यः काव्यतीर्थः
एम०ए०, हिन्दी साहित्यरत्न
प्रधानाचार्य, जयभारत साधु महाविद्यालय
हरिद्वार। दिनांक २०।९।७१ ईसवी।

देश के हितकार्य में संलग्न श्री १०८ स्वामी श्यामसुन्दरजी महाराज की निष्पक्षपात सत्यार्थानुमोदिनी

सम्मति

माननीय पाठक महानुभावो !

हमारे महामहिम परम श्रद्धेय दण्डी स्वामी श्री रामतीर्थ जी महाराज एक महान् अध्यात्मवादी एवं उच्चकोटि के विद्वान् पुरुष हैं—जिनको मैं बीसों वर्षों से अपनी लेखनी तथा प्रवचनामृत से अध्यात्मविद्या के प्रचार प्रसार में संलग्न देखता हूँ। ये बड़े धीर गम्भीर शान्तोदान्त तितिक्षु संयमी अद्वैतसेनानी हैं, जिन से मैं अत्यधिक प्रभावित हूं। उनके दिव्यदर्शन मात्र से भारत के विख्यात ब्रह्मवेत्ता ऋषिमुनि गण—याज्ञवल्क्य जी, वेदव्यास जी, शुकदेवमुनि जी आदि की पावन स्मृति हृदय-पटल पर साकार हो उठती है—दण्डी स्वामी जी ने वेदान्त-विद्या के हिन्दी एवं संस्कृत के प्रौढ़ ग्रन्थों का स्वाध्याय कर वेदान्त ग्रन्थों के पूर्वापर सन्दर्भों

का समन्वय आधुनिक शैली में युक्तियुक्त एवं तर्कसंगत किया है।

अतः निस्सन्देह कहा जा सकता है कि स्वामी जी वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् होने के साथ-साथ महान् समालोचक भी हैं। हिन्दी जगत् के आलोचना क्षेत्र में जिस प्रकार डा० श्यामसुन्दर दास जी—हिन्दीविभागाध्यक्ष हिन्दु विश्वविद्यालय वाराणसी का नाम बड़े आदर की दृष्टि से लिया जाता है—ठीक उसी प्रकार हिन्दीसंस्कृतमय क्षेत्र में दण्डी स्वामी जी का नाम लिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

स्वामी जी ने अब तक वेदान्त सम्बन्धी १५ पुस्तकें लिखी हैं जो बड़ी उपादेय हैं तथा इस वृद्धावस्था में भी उनकी लेखनी निरन्तर चल रही है। हिन्दी में विचार-सागर पर आलोचनात्मक जो समन्वय लेख स्वामी जी ने लिखा है वह एक विद्वान् विचारक का परिचायक है—जिससे हम सहमत हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त' में दण्डी स्वामी जी ने आत्मा का स्वरूप तथा स्वभाव, आत्मज्ञान का अधिकारी तथा उसकी धारणा एवं आत्मज्ञान का जीवन्मुक्त रूप फल बड़ी सुन्दर सुगम एवं संक्षिप्त शैली में वर्णन किया है। विदेहमुक्ति और उसके स्वरूप का वर्णन विशदरूप से किया है। जिस में व्यक्तिगत अनुभूति की छटा दिखाई देती है तथा वस्तुस्थिति का यथार्थ विवेचन किया है। दण्डी स्वामी जी ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् गीता मधुसूदनी आत्मपुराण आदि वेदान्त ग्रन्थों का आधार लेकर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, अतः सिद्ध होता है कि स्वामी जी ने शास्त्रीय मर्यादा में आबद्ध रहकर—"नाना पुराण निगमागम सम्मतं" यह इस तुलसी सूक्ति तथा 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ' इस गीता सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में स्वामीजी ने छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय के आधार पर ब्रह्मसूत्र के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में ऐसा स्पष्ट किया है कि इसमें केवल जीवन्मुक्ति का ही वर्णन है किन्तु इस पाद में विदेहमुक्ति का प्रकरण नहीं है। हम आपके इस मन्तव्य से सर्वथा सहमत हैं। अन्त में मैं अपनी हार्दिक शुभ कामनाएं अर्पित करते हुए पाठक महानुभावों से निवेदन करूंगा कि स्वामीजी के इस स्तुत्य प्रयास को पढ़कर हृदयंगम करें तथा भारत की अध्यात्म-विद्या एवं वैदिक संस्कृति का प्रचार प्रसार करें—जिससे विश्व में विश्वबन्धुत्व की भावना से स्थायी शान्ति स्थापित हो सके।

लेखक—डा० स्वामी श्यामसुन्दरदास
सांख्य-योग-वेदान्ताचार्यः साहित्यायुर्वेदाचार्यः बी०आई०एम०एस
प्रधानाचार्यः श्री गरीबदासीय साधु संस्कृत महाविद्यालय
मायापुर, हरिद्वार २२।९।७१ ईसवी।

सर्व-शास्त्र पारंगत श्री पण्डित-प्रवर वेदानन्द जी (झा) की सत्यार्थ-प्रदर्शिनी

सम्मति

'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये'

यह जीव, ब्रह्मविषयक अविद्या का ही विभ्रम तथा विकास है। जैसे कोई पुरुष, चोरों के द्वारा पट्टी से बांधे आंखें तथा पांव गांधार देश से लाया गया किसी घोर जंगल में छोड़ दिये जाने पर दिग्भ्रम में पड़कर भटक-भटक कर क्रन्दन करता हुआ बन्धन से मुक्त होना चाहता है तथा कभी किसी दयालु पुरुष के द्वारा बन्धन खोल देने पर उसके उपदिष्ट रास्ते से पुनः अपने गन्धार देश में पहुँचकर परम निर्वृति सुखी हो जाता है, इसी प्रकार यह आत्मा

मोहपट से आबद्ध नेत्रवाला धनधान्य पुत्र कलत्रादि विषय-तृष्णा-पाश से बांधा हुआ पांच भौतिक देह रूप वन में पुण्यापुण्य कर्मरूप चोरों के द्वारा प्रवेश कराये जाने पर सहस्रों शीतोष्ण दुख-द्वन्द्वों व अनर्थों को भोगता हुआ किसी प्रकार पुण्य के उदय से परम कारुणिक किसी ब्रह्मात्मज्ञानी आचार्य के पास पहुंचकर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के उपदेश से मोहपाश से मुक्त होकर गान्धार-वासी पुरुष के समान स्वस्वरूप सदात्मा को पाकर परम सुखी हो जाता है। वहीं कहा भी है—'पण्डितो मेधावी गान्धारानेवोपसद्य' उक्त आत्मविज्ञानी को आत्मस्वरूप संपत्ति में इतना ही विलम्ब है जब तक कि वह विमुक्त बाण की तरह प्रारब्ध कर्म का उपभोग से क्षय होकर देह का पात हो जाय, ज्ञान से अनारब्ध कर्मों का क्षय होता है किन्तु जिन कर्मों से शरीर बना है उन प्रारब्ध कर्मों का भोग से क्षय होता है। जैसे लक्ष्य का वेध होने पर तर्कश में रखे हुए बाण ही प्रयोग में नहीं लाये जाने से अकर्मक हैं किन्तु छोड़े गये बाण तो वेग समाप्त होने पर ही सफल होते हैं। प्रारब्ध कर्म उपभोग से ही क्षीण होते हैं। अतः तत्त्वज्ञान होने पर भी ब्रह्मज्ञानी के लिये जीवन प्रयोजन न रहने पर भी प्रारब्ध कर्मों का फल भोग अवश्य करना होता है। इसीलिये कहा है 'तस्य तावदेव चिरम्'।

सत्संपत्तिरूप कैवल्य में विदेह कालिक होता है। जोकि देह का पात होने पर होता है इससे पूर्व जीवन्मुक्त में जीवन्मुक्ति होती है। निष्कर्म में तीन अवस्थाएं है—१. विद्या पूर्वक्षण २. विद्या-क्षण और ३. विद्या का उत्तर क्षण।

पहला विद्या का पूर्वक्षण विद्या नहीं है, अतः यह क्षण दृश्य-विशिष्ट काल है, दृश्य शून्य नहीं। दूसरा विद्याक्षण है, यह मनः परिणाम रूप तत्त्वज्ञान विशेष है, इसमें स्थूल अज्ञान का नाश

होने पर भी संस्कार रूप अविद्या काल है, यह भी दृश्य विशिष्ट काल है, यह जीवन्मुक्त दशा है जो कि दृश्यविशिष्ट काल से पूर्व नहीं है, क्योंकि उत्तर क्षण में दृश्य नहीं है, अतएव इसमें भी दृश्य विशिष्ट काल पूर्व स्वभाव नियम सुरक्षित है। तीसरा विद्योत्तर क्षण है, इसमें दृश्य का अत्यन्ताभाव है, यह विदेहताकालीन होता है। वार्तिक में कहा भी है—

अविद्यास्तमयो नोक्तः सच्च बाध उदाहृतः ॥
निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः ॥

सारांश में जीवन्मुक्ति में अविद्यालेश अनुवर्तमान है, अविद्या-शून्य नहीं, विदेहमुक्ति में अविद्या सामान्याभाव है। इसी विषय को सरल लोक-भाषा में श्री १०८ दण्डी स्वामी राम-तीर्थ जी महाराज ने अपने इस प्रकृत 'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त' इस लघु ग्रन्थ में सांगोपांग विवेचन किया है—जो कि परमतत्त्व जिज्ञासुओं के लिए परतत्त्व में बोधोपयोगी होने से अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा, यह पूर्ण आशा है। भारतीय तत्त्वज्ञान के उत्तरोत्तर स्थल के युग में प्राञ्जल भाषा में यह सुबोध लघु कलेवर ग्रन्थ पाश्चात्य विज्ञान के चाकचाक्य (चमक-दमक) से अन्धजनों को आलोक प्रदान कर श्रौत सिद्धान्त का प्रचार प्रसार करेगा। अन्त में सत्प्रयास के लिए लेखक स्वामीजी को आनन्द कन्द सच्चिदानन्द से भूरि-भूरि मुक्तकण्ठ धन्यवादार्पण तथा श्रद्धा कुसुमार्पण है। विदुषां वशंवदः वेदानन्द (झा)

व्याकरण न्याय वेदान्त साहित्याचार्य सांख्य योग शास्त्री

एम० ए० हिन्दी साहित्यरत्न।

प्रधानाचार्यश्री भगवानदास संस्कृत महाविद्यालय

प्राचीन मण्डलाश्रम, हरिद्वार

२३।९।७१॥

लाहौर शीतला मन्दिर पाठशाला के भूतपूर्व प्रधानाचार्य महामहोपाध्याय श्री १०८ स्वामी हंसदेव मुनिजी महाराज की मुमुक्षु-जन-हर्षवर्धिनी

सम्मति

अध्यात्मप्रिय बन्धुओ !

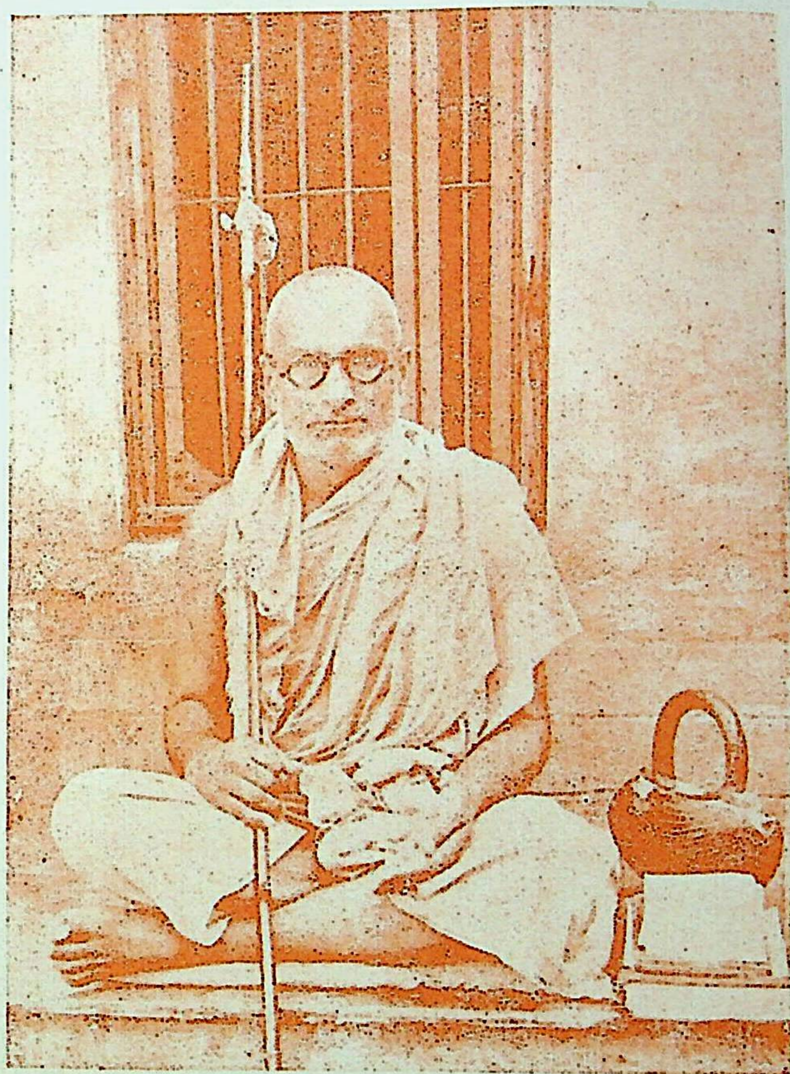
आज मैंने अपने प्राचीन मित्रवर्य अभिन्न-आत्मा यतिवर्य दण्डो स्वामो श्री रामतीर्थजी द्वारा रचित 'जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त' नामक लघु ग्रन्थ के अध्यात्म-गुण मुक्ताओं का जब अव-लोकन किया तो मेरा मानस-मराल अत्यन्त आल्हादित एवं प्रफुल्लित हो उठा। यह लघु ग्रन्थ गागर में सागर के समान त्रिविध ताप सन्तप्त मानव समाज को पराशान्ति निर्वाण-पद प्रदान करेगा ऐसा मेरा विश्वास है। स्वामी जी वास्तव में 'सन्तहृदय नवनीत समाना' इस तुलसी सूक्ति के अनुसार स्वच्छ हृदय अदभ्र सद्गुण सम्पन्न महापुरुष हैं जिन्होंने अब तक १५ पुस्तकों की रचना कर मानव-समाज का बड़ा उपकार किया है। प्रस्तुत पुस्तक के मन्तव्य से मैं पूर्ण सहमत हूँ। पाठक गण स्वयं स्वाध्याय कर सायुज्य मुक्ति पथ के पथिक बनेंगे ऐसी मेरी धारणा है।

स्वामी हंसदेव मुनि

रामनिवास, श्रवणनाथ नगर, हरिद्वार

१।१०।७१

विषय-सूची



श्री ० रामतीर्थ जी महाराज दण्डी संन्यासी

सत्कार समालोचना

वैदिक धर्म (मासिक) ज्वेष्ठ २०२६
स्वाध्याय मण्डल (पारडी) ज़िला वरसाड, (गुजरात)
जीववन्मुक्त और विदेहमुक्त
लेखक—श्री रामतीर्थ जी दण्डी स्वामी
प्रकाशक—श्री मुरारी लालात्मज राज (सोनी)
सोनियां मुहल्ला, पुराना बाज़ार, लुधियाना
मूल्य केवल डाक व्यय मात्र

परम श्रद्धेय दण्डी स्वामी श्री रामतीर्थजी महाराज अध्यात्मवादी और बड़े विद्वान पुरुष हैं। उन्होंने अपने जीवन भर किये हुए साक्षात्कारों एवं अनुभवों का इस पुस्तक में साधारण जनता के लिये वर्णन किया है। आत्मा का स्वरूप, आत्मज्ञान का फल और उस का जीवनमुक्त रूप फल इन का अत्यन्त सुगम और सुन्दर शैली में इसमें वर्णन किया है। सब वेदान्त ग्रन्थों का आधार लेकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

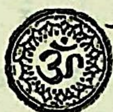
पूज्य स्वामी जी के इस मननीय, विचारशील, पुस्तक को सब पढ़ें और भारतीय अध्यात्मविद्या और वैदिक संस्कृति का प्रभाव जगत् पर करें, ऐसी हम जनता से प्रार्थना करते हैं। इससे जगत् में विश्वबन्धुत्व की भावना निर्माण हो जायेगी।

इस पुस्तक के लेखक पूज्य स्वामी जी को इस अमूल्य पुस्तक के लेखन लिए हम अनन्त धन्यवाद देते हैं।

समालोचना

धर्म संघ समाचार — अकोला (विदर्भ) फाल्गुण सं: २०२८।
जीवनमुक्त और विदेहमुक्त

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री रामतीर्थ जी महाराज दण्डी स्वामीने जीवनमुक्त और विदेहमुक्त नामक किताब लिखकर वेदान्त प्रेमियों के लिए एक अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ का प्रकाशन किया है। इच्छुक महानुभाव, यह किताब डाक व्यय मात्र के भेजने पर श्री पं: अमोलकराम ज्योतिषी, सोनियां मन्दिर, पुराना बाज़ार, लुधियाना से प्राप्त कर सकते हैं।



जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त

ॐ तत्सत् परब्रह्मणे नमः ।

श्री गुरुभ्यो देवेभ्यो नमो नमः ।

नमोऽस्तु ब्रह्मणे तस्मै, सर्वदेवस्वयंभुवे ।
मूलभूताय जगतस्तथा वेदद्रुमस्य च ।।

मैं हिरण्यगर्भ भगवान् को नमस्कार करता हूँ, जो सदा ही अपने आपसे प्रकट होते हैं और जगत् तथा वेद रूपी वृक्ष के मूल कारण हैं।

(१) आत्मा का स्वरूप

'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति०'–जैसे शुद्ध जल में प्रक्षिप्त हुआ शुद्ध जल एक हो जाता है, ऐसे ही सुषुप्ति में द्रष्टा, एक अद्वैत होता है।'हे सम्राट् ! यह ब्रह्मलोक है'—ऐसा याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया है। यह इस (पुरुष) की परम गति है, यह इसकी परम संपत्ति है, यह इसका परम लोक है, यह इसका परम आनन्द है। इस आनन्द की मात्रा के आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं (बृ० ४।३।३२) इस श्रुति में आत्मा का स्वरूप, सत्-चित्-आनन्द है, ऐसा माना गया है।

स्वस्वजाति-विजात्युत्थ-भेदत्रयविवर्जनात् ।
एको निरन्तरो द्रष्टा सुप्तौ भवति भूपते ॥७६३॥
सूत्रानन्दो भवेन्मात्रा भूतो यः परमः स्मृतः ।
स तु सौषुप्त आनन्दः परमात्मेति कीर्तितः ॥८१४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक ! सुषुप्ति में स्वगत सजातीय और विजातीय रूप तीनों भेदों से रहित द्रष्टा (आत्मा) एक एवं अद्वैत होता है ॥७६३॥ जो परमानन्द कहा है, जिसका हिरण्यगर्भ का आनन्द भी मात्रा (अंश) रूप है, वही सुषुप्ति में होनेवाला परमानन्द कहा गया है ॥८१४॥ इस प्रकार आत्मपुराण के छठे अध्याय में भी पूर्वोक्त श्रुति के आधार पर ही आत्मा का स्वरूप, सच्चिदानन्द ही माना गया है । "इदं शरीरं कौन्तेय०"—हे कौन्तेय ! यह शरीर क्षेत्र या खेत ऐसा कहा जाता है और जो इसको जानता है उसके जाननेवाले उसको क्षेत्रज्ञ ऐसा कहते हैं। (गीता १३।१) इस प्रकार गीता में भी आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही माना गया है ।

(२) आत्मा का स्वभाव

'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं०'—यदि कोई मारनेवाला व्यक्ति अपने को मारने में समर्थ समझता है और यदि कोई मारा जानेवाला व्यक्ति अपने को मारा गया मानता है तो वे दोनों ही आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है । (कठ० उप० १।२।१९)

'य एनं वेत्ति हन्तारं०'—जो इस आत्मा को मारनेवाला जानता है और जो इसको मरनेवाला जानता है वे दोनों ही आत्मा के स्वरूप को नहीं जानते, क्योंकि न तो यह आत्मा किसी को मारता है और न किसी से मारा जाता है। (गीता २।१९)

'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते०'–यह आत्मा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और निर्विकार है (गीता २।२५)

इस प्रकार गीता में भी आत्मा के स्वभाव को अकर्ता तथा अभोक्ता बताया गया है।

(३) आत्मज्ञान का अधिकारी

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्०'—कर्म से प्राप्त किये जानेवाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासावाला व्यक्ति वैराग्य को प्राप्त हो जाय, वह यह समझे कि किये जानेवाले कर्म से स्वतःसिद्ध आत्मा नहीं मिलता; यह उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हाथ में समिधा लेकर वेद को भलीभान्ति जाननेवाले ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास विनयपूर्वक जाए ।। मन्त्र १२ ।।

'तस्मै स०'—वह ब्रह्मज्ञानी महान आत्मा, शरण में आए हुए पूर्णतया शान्त चित्तवाले और इन्द्रियों पर विजय पाए हुए उस शिष्य को उस ब्रह्मविद्या का तत्त्व से उपदेश करे जिससे वह शिष्य अविनाशी नित्य परम पुरुष को जानले। (मुण्डक १।२।१३) इस प्रकार उपनिषदों में विवेक विराग, शम आदि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता इन चार साधनों वाले व्यक्ति को ही आत्मज्ञानका अधिकारी माना गया है।

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'०—श्रीकृष्णजी से अर्जुन ने कहा कि कायरता रूपी दोष से मेरा अन्तःकरण ढका हुआ है, धर्म में मूढ़चित्तवाला मैं आप से पूछता हूं जो श्रेय का साधन हो वह मेरे से निश्चित कर कहिये, मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण में हूं मुझे शिक्षा दीजिये। (गीता २।७)

इस प्रकार गीता में भी विवेक विराग वाले व्यक्ति को ही आत्मज्ञान का पात्र या अधिकारी माना गया है।

(४) आत्मज्ञानी की धारणा

(नैव किंचित् करोमीति०—तत्व को जानने वाला योगी, देह और इन्द्रियों के देखना सुनना चलना आदि लौकिक तथा वैदिक कर्मों को करता हुआ भी "देह और इन्द्रियां अपने अपने शब्द आदि विषयों में वर्त रही हैं" ऐसी धारणा करके "मैं कुछ भी नहीं करता हूं" यही समझे (गीता ५।८) आत्मज्ञानी की ही ऐसी धारणा होती है।

(५) आत्म-ज्ञान का जीवन्मुक्ति रूपी फल

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि०'—जिस स्थिति में आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जाननेवाले व्यक्ति के अनुभव में सम्पूर्ण प्राणी एक मात्र अपना स्वरूप हो चुके हैं, उस अवस्था में आत्मा की एकता का निरन्तर साक्षात् करने वाले व्यक्ति के लिये कौनसा मोह और कौनसा शोक रह जाता है। (ईशावास्योपनिषद् ७)

'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति०' आत्मा रस रूप है अर्थात् आनन्द रूप है, उस आनन्द स्वरूप आत्मा को प्राप्त करके आत्मज्ञानी आनन्द वाला हो जाता है। (तैत्तरी०अनुवाक ७) इस प्रकार मन्त्रों तथा श्रुतियों में ब्रह्मात्मज्ञानी को मोह शोक के त्यागपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति बताई गई है। इसीका नाम जीवन्मुक्ति है, अर्थात् स्थूलशरीर और सूक्ष्म शरीर के रहते हुए मुक्ति (शोक की निवृत्ति) ऐसी अवस्था से ही आत्मज्ञानी का जीवन्मुक्त ऐसा नाम होता है।

(६) आत्मज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी की महिमा

'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्०'—वह यह आत्मा अर्थात् ब्रह्माभिन्न आत्मा पुत्र से अधिक प्रिय है, धन से भी अधिक प्रिय है और अन्य सब से

भी अधिक प्रिय है, क्योंकि य आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतम है, यह जो आत्म-प्रियदर्शी है वह आत्मा से भिन्न (अनात्मा) को प्रिय कहने वाले पुरुष से कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जायेगा' तो वैसा ही होजाता है, क्योंकि आत्मज्ञानी ईश्वर अर्थात् समर्थ होता है। (बृ० १।४।८)

'यं यं लोकं मनसा०'—आत्मज्ञानी मनुष्य, जिस जिस लोक का मन से चिन्तन करता है तथा जिन जिन भोगों की कामना करता है, उस उस लोक को जीत लेता है और उन उन इच्छित भोगों को भी जीत लेता है, अर्थात् प्राप्त कर लेता है। इसलिये ऐश्वर्य की कामना वाला मनुष्य, आत्मज्ञानी की अर्चना अर्थात् सत्कार करे, क्योंकि आत्मज्ञानी पुरुष सत्यसंकल्प होता है। वह जिस के प्रति जो संकल्प करेगा वह वैसा ही हो जाएगा (मुण्डक० ३।१।१०)

'स वैतत्परम ब्रह्म वेद'—आत्मज्ञानी, उस परम विशुद्ध ब्रह्मधाम को अर्थात् ब्रह्म को जानता है जिसमें सम्पूर्ण जगत स्थित हुआ प्रतीत होता है, जो मनुष्य उस आत्मज्ञानी की निष्कामभाव से सेवा करते हैं वे पुनर्जन्म को धारण नहीं करते अर्थात् उसकी कृपा से आत्मज्ञान की प्राप्ति करके मुक्त हो जाते हैं। (मुण्डक ३।२।१)

'स यो ह वैतत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति०' मनुष्यमात्र में जो कोई भी स्त्री या पुरुष, उस परब्रह्म को जान लेता है वहब्रह्म ही हो जाता है उसके कुल में भी कोई ब्रह्मज्ञान से रहित नहीं होता, वह शोक को तरजाता है, पाप को तरजाता है और वह हृदय के सब संशयों से रहित एवं अमर हो जाता है (मुण्डक ३।२।९)।

शंका—जैसे कोई घोड़े को जानने वाला व्यक्ति घोड़ा नहीं

हो जाता है और गधे आदि को जानने वाला गधा आदि नहीं हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म को जाननेवाला व्यक्ति भी ब्रह्म नहीं हो सकता ? इस शंका का समाधान ऐसा है कि यह शंका जाति विशेष में तो लागू हो सकती है, किन्तु यह शंका ब्रह्मज्ञानी पर लागू नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति,— ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है (बृ० ४।४।६) इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मज्ञानी का अपना स्वरूप ही ब्रह्म है, श्रुतिका ऐसा अर्थ निर्विवाद सिद्ध है— इसमें किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी को स्थान नहीं है, इसलिये ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म हो सकता है।

ब्रह्मज्ञानी सदा निरलेप। जैसे जल में कमल अलेप॥
ब्रह्मज्ञानी सदा निरदोष। जैसे सूर (सूर्य) सरब को सोख॥
ब्रह्मज्ञानी कै मन परमानन्द। ब्रह्मज्ञानी के घर सदा आनन्द॥
ब्रह्मज्ञानी को खोजै महेसर। नानक ब्रह्मज्ञानी आप परमेसर॥
ब्रह्मज्ञानी सब सृष्टि का करता। ब्रह्मज्ञानी पूरण पुरुष विधाता।
ब्रह्मज्ञानी आप निरंकार। नानक ब्रह्मज्ञानी सरब का धनी॥

इस प्रकार सुखमनि साहिबजी में भी आठवीं अष्टपदी में ब्रह्मज्ञानी की महिमा बड़े विस्तार पूर्वक गाई हुई है।

पूर्वोक्त प्रकार से आत्मज्ञान के फलस्वरूप जीवन्मुक्ति का निरूपण किया गया है।

(७) जीवन्मुक्ति का विदेह मुक्ति रूपी फल

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१॥

आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाने पर आत्मज्ञानी के पूर्वसंचित पाप-कर्मों का विनाश हो जाता है और उसको आगामी कर्मों का स्पर्श नहीं होता ऐसा श्रुतियों में कथन है। (ब्रह्म० ४।१। १३) **इतरस्याप्येवमश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥** इसी प्रकार

आत्मज्ञानी के पूर्व संचितपुण्य कर्मो का विनाश होता है और उसका आगे किये जानेवाले पुण्य कर्मों से भी सम्बन्ध नहीं रहता। शरीर का पात होने पर उसकी मुक्ति हो जाती है। (४।१।१४) भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ।१६। परन्तु प्रारब्ध-कर्मों की भोग द्वारा समाप्ति करके सत् संपन्न हो जाता है।(४।१।१९)

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति०'—आत्मज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते (बृ० ४।४।६) अत्रैव समवनीयन्ते०'—परमात्मा में ही भली प्रकार लीन हो जाते हैं। (बृ० ३।२।११)

'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति०'— वह ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त होता है।

'विमुक्तश्च विमुच्यते०'—आत्मा विशेषरूप से मुक्त होता हुआ ही विशेष रूप से मुक्त हो जाता है। (कठ० २ वल्ली २। मंत्र १) पूर्वोक्त समस्त श्रुतियों के अनुसार जीवन-मुक्तिका फल विदेहमुक्ति ही है।

(८) विदेहमुक्ति का स्वरूप

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥ श्रुतियों में ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय रूपी विशेष ज्ञान का अभाव, कहीं पर तो सुषुप्ति को लेकर कहा गया है और कहीं पर कैवल्य मुक्ति को लेकर कहा है। (ब्रह्म० ४।४।१६)

'एषः अस्य परमानन्दः'—यह इस जीवात्मा का परमानन्द है। (बृ० ४।३।३२) इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुतियों के प्रमाणों से सूक्ष्म शरीर का अत्यन्त अभाव हो जाने से विशेषज्ञान के अत्यन्त अभावपूवक और परमानन्द की प्राप्ति पूर्वक सुषुप्त अवस्था के समान आत्मा की जो सदा के लिये स्थिति है वह विदेहमुक्ति है ऐसी अवस्था वाली जीवन्मुक्ति का नाम ही विदेहमुक्ति ऐसा हो

जाता है। इस प्रकार जीवन्मुक्ति के फल स्वरूप विदेहमुक्ति का निरूपण किया गया है।

चेतावनी

जो लोग राजा जनक को विदेहमुक्त मानते हैं वे लोग भूल करते हैं, क्योंकि विदेह तो उसके प्रान्तों या देशों का नाम है इसी से जनक को उपनिषदों में 'जनको ह: वैदेह:०'—वैदेह जनक ऐसा कहा है (बृ० ४।४।१), किंतु उसका विदेह जनक ऐसा नाम नहीं है। उसके विदेह जनक इस नाम की भ्रान्ति लोगों को उपनिषदों का सावधानी से अध्ययन नहीं करने से हुई है जैसा कि राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से अपने प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर पाकर प्रसन्न मन से कहा—'सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति।'—वह मैं श्रीमान् के लिए विदेहों को देता हूँ और साथ ही आपकी दासता (सेवा के लिए) अपने आपको भी समर्पण करता हूं (बृ० ४।४।२३) दसश्रुति में विदेह ऐसा नाम जनक के देशों या जिलों का नाम है। इसलिये राजा जनक को जीवन्मुक्त ऐसा कहना और मानना चाहिए, किन्तु उसको विदेह-मुक्त कहना यह उचित नहीं है।

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप, आत्मा का स्वभाव, आत्मज्ञान का अधिकारी, आत्मज्ञानी की धारणा, आत्मज्ञान का फल, ब्रह्मात्मज्ञानी की महिमा, जीवन्मुक्ति का फल और विदेहमुक्ति का स्वरूप ऐसा संक्षेप में कहा गया है।

(९) दो जीवन्मुक्तियां

एक तो जीवन्मुक्ति उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जो केवल आत्मज्ञान को प्राप्त कर आत्मज्ञानी हुआ है। उसकी जीवन्मुक्त

अवस्था इसी लोक में होती है, जिसका अन्तिम फल विदेहमुक्ति अवश्यंभावी होना पीछे वर्णन किया गया है। दूसरी जीवन्मुक्ति उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जो आत्मज्ञान के साथ-साथ सगुण ब्रह्म का उपासक भी है। उसको जीवन्मुक्ति की प्राप्ति इस लोक में भी होती है और मृत्यु के अनन्तर ब्रह्म-लोक में भी प्राप्त होती है, ऐसी आत्मज्ञान के सहित सगुणब्रह्म की भी उपासना का कथन केवल छादोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय में ही है, किंतु ऐसाअभिधान अन्य किसी भी उपनिषद् मे नहीं है। इस अध्याय के पन्द्रह खण्ड हैं। इसके छे खण्डों में दहर-विद्या का वर्णन है। शेष सभी खण्डों में इन्द्र ने जो विद्या प्राप्त की थी उसका वर्णन है। इस अध्याय की मीमांसा, ब्रह्मसूत्र में चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में की हुई है। वह इस प्रकार है—

सदद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

प्रकाश स्वरूप आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करके विद्वान् उसी आत्म स्वरूप से प्रकट होता है, क्योंकि 'स्वेन' ऐसी श्रुति है।

व्याख्या—**'एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय०'**—(जैसे वायु आदि) उसी प्रकार यह संप्रसाद इस शरीर से समुत्थान कर परमज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, वह उत्तम पुरुष है। उस अवस्था में वह हंसता क्रीडा करता और स्त्री यान अथवा जाति-जनके साथ रमण करता है और अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है। जैसे घोड़ा व बैल गाड़ी में जुता रहता है, ऐसे ही यह प्राण शरीर में जुता हुआ है। (इन्द्र-विद्या खण्ड १२—श्रुति ३)

'अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय०' यह जो संप्रसाद है यह इस शरीर से समुत्थान कर परमज्योति को प्राप्त

हो अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यह आत्मा है, यही अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है। (दहरविद्या खण्ड २–श्रुति ४)

चेतावनी

ऐसे तो सुषुप्ति में महाप्रसन्न होनेवाला आत्मा संप्रसाद कहलाता है, किंतु इन दोनों विद्याओं में तो आत्मा के परम ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त कर महाप्रसन्न हुए आत्मज्ञानी का नाम संप्रसाद है।

१—जो लोग, एक ही शरीर में आत्मा और परमात्मा नामवाले दो चेतनों की स्थिति मानते हैं, वे भूल करते है, क्योंकि दोनों विद्याओं की दोनों ही श्रुतियों में 'स्वेन' इस शब्द से शरीर में एक ही चेतन माना हुआ है, किन्तु दो चेतन नहीं माने गए हैं।

२—जो लोग भगवद्गीता अध्याय १३ श्लोक २ **क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत०**, हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ को जान और मुझको भी जान, इसका ऐसा अर्थ करके एक शरीर में दो चेतन मानते हैं वे भी भूल में पड़ रहे हैं, क्योंकि उक्त श्रुति के 'स्वेन' इस शब्द से शरीर में एक ही चैतन्य सिद्ध हुआ है, किन्तु दो चैतन्यसिद्ध नहीं होते हैं।

३—जो लोग गीता अध्याय, १५ श्लोक १७—**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**—इस श्लोक का ऐसा अर्थ करते हैं कि शरीर में जीवात्मा से उत्तम-पुरुष परमात्मा भिन्न है वे भी भ्रान्ति-ग्रस्त हैं, क्योंकि इन्द्र-विद्या की श्रुति में आत्मा को वह उत्तम पुरुष है ऐसा कहा गया है, किंतु दहर-विद्या की उक्त श्रुति में तो जीवात्मा को अमृत अभय और यही ब्रह्म है ऐसा कह दिया गया है।

भृगु ने भरद्वाज से कहा—

आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः।
तैरेवतु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥२४॥

प्रकृति के कार्य देह इन्द्रिय आदि से सयुक्त (जुड़ा हुआ) आत्मा (सर्वान्तरात्मा ईश्वर) क्षेत्रज्ञ अर्थात जीवात्मा ऐसा कहा जाता है किन्तु देह इन्द्रियों से विमुक्त (छूटा हुआ) वह परमात्मा ऐसा कहा जाता है ॥२४॥ महाभारत शान्ति पर्व अध्याय १८७) । इसलिये एक शरीर में दो चेतनों की कल्पना भ्रान्ति मूलक ही है। इसप्रकार 'स्वेन' इस शब्द से एक शरीर में एक ही शुद्ध आत्मा काग्रहण किया गया है ॥ सूत्र १ ॥

अब प्रश्न यह होता है कि संप्रसाद का प्रसिद्ध नाम दूसरा कौन सा है। इसका उत्तर आगे के सूत्र में इस प्रकार है—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

वह संप्रसाद मुक्त है, क्योंकि आचार्य और प्रजापति ने अपने इन्द्र आदि शिष्यों को बारम्बार कहा है कि हम तुम्हारे को उसी आत्मा का उपदेश करेंगे ऐसा प्रतिज्ञा-वचन है; इसलिये यह संप्रसाद नामी आत्मज्ञानी मुक्त है ॥२॥

चेतावनी रूप व्याख्या

यह संप्रसादनामी आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त है, किंतु यह विदेह मुक्त नहीं है, क्योंकि दोनों विद्याओं की दोनों श्रुतियों के 'अस्माच्छरीरात्समुत्थाय' इस वाक्य पर शंकर-भाष्य इस प्रकार है—अस्माच्छरीरात्समुत्थाय शरीरात्मभावनां परित्यज्येत्यर्थः— इस शरीर से सम्यक् उत्थान कर अर्थात् देह में आत्मबुद्धि को

त्याग कर (दहर-विद्या खण्ड ३।४) 'समुत्थाय'—देहादि विलक्षण-मात्मनो रूपमवगम्य, देहात्मभावनां हित्वा इत्येतत्-समुत्थानकर-देह आदि से विलक्षण आत्मा के स्वरूप को जानकर अर्थात् देह में आत्मबुद्धि को त्यागकर अपने स्वाभाविक सत् स्वरूप में स्थित हो जाता है। (इन्द्रविद्या, खण्ड १२, श्रुति ३) इस प्रकार भाष्य में देह आदि में आत्म-भ्रान्ति का त्याग करना कहा है, किंतु देह का त्याग करना नहीं कहा है। इसलिए यह संप्रसाद नामी आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त है।

२— इन्द्रविद्या के १२ वें खण्ड में श्रुति— मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरं आत्तं मृत्युना' हे इन्द्र, यह शरीर मरणशील है, यह मृत्यु से ग्रस्त है, यह इस अमृत अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान (भोगायतन) है, शरीर के सहित आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रिय से ग्रस्त है। सशरीर रहते हुए इसके प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं हो सकता और अशरीर होने पर इसको प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं करते॥१॥ इस श्रुति का भाष्य के अनुसार भावार्थ ऐसा है जब तक शरीर में आत्मपन की भ्रांति है तब तक यह बद्ध है और जब आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से शरीर में आत्मपन नहीं रहता तब यह मुक्त है। इसलिये शरीर में आत्मभ्रान्ति के अभाव से यह संप्रसादनामी आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त है।

३—चौथे सूत्र के भाष्य में 'मुक्त':, दश में 'मोक्षे', ११ वें में "मुक्तम्", १३में मोक्षेऽपि स्युः, १४ में मुक्तस्य,१५ में मुक्तस्य, १७ में मुक्तानां, इन पदोंमें भी 'मुक्तः प्रतिज्ञानात्। २।। इस सूत्र के ही 'मुक्तः' इस पद का ग्रहण किया गया है, क्योंकि अन्य किसी भी सूत्र में 'मुक्तः' ऐसा पाठ नहीं है। इससे भी संप्रसादनामी आत्मा-जीवन्मुक्त ही सिद्ध हुआ है॥ सूत्र २॥

अब यहां प्रश्न होता है कि यह संप्रसाद नामधारी

जीवन्मुक्त कौन हुआ है ? इसका उत्तर स्वरूप आगे का सूत्र है—

आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

आत्मा (अपना स्वरूप) मुक्त हुआ है, क्योंकि श्रुतियों में आत्मा का ही प्रकरण है. जैसा कि दहर-विद्या खण्ड २ में श्रुति है— 'एष आत्मापहतपाप्मा०' ।५। ऐसी ही इन्द्रविद्या के सातवें खण्ड में श्रुति है 'य आत्मापहतपाप्मा०' ॥१॥ जैसा कि दहर-विद्या के खण्ड १ में श्रुति है **'अथ इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति ॥६॥** वैसी ही इन्द्र-विद्या के सातवें खण्ड में श्रुति है— **'यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति'** ॥१॥ इस प्रकार यह आत्मा का प्रकरण है सूत्र ३ । इस सूत्र से यह स्पष्ट हो गया कि सप्रसादनामी आत्मा ही मुक्त हुआ है ।

अब प्रश्न यह होता है कि इस संप्रसादनामी जीवन्मुक्त आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद होता है अथवा नहीं होता है । इसके उत्तर रूप में सूत्र का आकार ऐसा है—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

संप्रसाद नाम वाले जीवन्मुक्त आत्मा का ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है, क्योंकि ऐसा ही देखा गया है । जैसा कि कठउपनिषद् की चौथी वल्ली में मन्त्र है । **'यथोदकं शुद्धे शुद्धं असिक्तं तादृग् एव भवति'**—हे गौतम ! जैसे निर्मल जल में मेघों द्वारा बरसाया हुआ निर्मल जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी मुनि का आत्मा भी ब्रह्म हो जाता है ॥ १५ ॥

जिस प्रकार घट के नाश से उसके आकाश की महाकाश के साथ एकता हो जाती है, अथवा घट के नाश से उसके जल की समुद्र के साथ एकता हो जाती है, उसी प्रकार स्थूलशरीर के अभाव से अर्थात् देह इन्द्रिय आदि में आत्मभ्रान्ति की निवृत्ति

हो जाने पर उसके आत्मा का शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ अभेद हो जाता है ।। सूत्र ४ ।।

पूर्वोक्त चार सूत्रों से व्यासजी ने विवेक आदि चार साधनों द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार किए हुए आत्मज्ञानी को स्थूल शरीर की विद्यमानता में ही मुक्त एवं शुद्ध ब्रह्म मान लिया है।

जिस प्रकार दहरविद्या के प्रथम खण्ड की 'एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सोऽपिपासः'—यह आत्मा है, पाप-रहित है, जरा-रहित है, मृत्युहीन है शोकरहित है, भोजनेच्छा रहित है और तृषा से रहित है ।।५।। इस श्रुति के पूर्वार्ध भाग में कहा है वैसे ही इन्द्रविद्या के सातवें खण्ड की 'य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सोऽपिपासः ।।१।। इस श्रुति के इतने पूर्वार्धभाग में वर्णित आत्मा का शुद्ध निर्गुणरूप उसके यथार्थ बोध से आत्मज्ञानी के सर्वबन्ध-विमुक्त निर्गुण ब्रह्मरूप को कहा गया है। अब दोनों विद्याओं की श्रुतियों के सत्यकामः सत्यसंकल्पः—सत्य कामनावाला है और सत्यसंकल्पवाला है— इतने उत्तरार्धभाग में वर्णित जो अत्मा का सगुण ब्रह्मरूप है उसकी उपासना से उसी निर्गुण ब्रह्मरूप मुक्त आत्मा को सगुणब्रह्म है ऐसा बतलाने के लिए आगे के सूत्र का स्वरूप इस प्रकार है—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।।५।।

शं० भाष्य—स्वमस्य रूपं ब्राह्मं—ब्राह्म ब्रह्म का रूप है जिसमें पाप से रहित आदि से लेकर सत्यसंकल्प पर्यन्त धर्म रहते हैं उसी प्रकार सर्वज्ञता और सर्वेश्वरता धर्म भी है, आत्मा उस अपने रूप से संपन्न होता है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं, क्योंकि उपन्यास आदि हेतुओं से इस प्रकार ज्ञात होता है। (यह भाष्य है)

दहर-विद्या के प्रथम खण्ड में उपन्यास, उपक्रम आरम्भ

इतिहास व्याख्यान कथा या प्रकरण ऐसा है— 'एष आत्मापहत पाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः" और इन्द्र विद्या के सप्तम खण्ड में भी 'य आत्मापहत पाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' वैसा ही उपन्यास है। इस प्रकार दोनों ही विद्याओं में उपक्रम एक जैसा ही है, इसलिये मुक्त आत्मा आत्मज्ञानी, निर्गुण ब्रह्म रूप से और सगुण ब्रह्म रूप से दोनों ही रूपों से स्थित होता है, ऐसा जैमिनि जी का मत है ॥५॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वात् इति औडुलोमिः ॥६॥

भावार्थ –औडुलोमि का कथन है कि जबकि आत्मज्ञानी की देह आदि संघात में आत्म-भ्रान्ति नहीं है, चैतन्यमात्र उसका स्वरूप है—तब फिर उसमें सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि रूप मन बुद्धि के धर्मों को मानना व्यर्थ है, इसलिये वह केवल चैतन्यमात्र रूप से स्थित होता है, किंतु सगुण रूप से स्थित नहीं होता है। इस प्रकार औडुलोमि आचार्य, आत्मज्ञानी को सगुण ब्रह्म रूप न मानकर उसको निर्गुण ब्रह्म रूप ही मानते हैं ॥६॥

इस प्रकार जैमिनिजी के और औडुलोमि के मत को दिखाकर व्यासजी अब अपना निर्णय बता रहे हैं।

एवमपि उपन्यासात् पूर्वभावात् अविरोधं बादरायणः ।७।

भाष्य—एवं अपि पारमार्थिक-चैतन्यमात्र - स्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहरापेक्षया पूवस्यापि उपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्म ऐश्वर्यरूपस्य अप्रत्याख्यानात् अविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ।

इस भाष्य का भावार्थ—औडुलोमि के मत के अनुसार आत्मा का पारमार्थिक चैतन्यमात्र स्वरूप मान लेने पर भो जैमिनि ने पहले होने वाले उपन्यास या उपक्रम के आधार पर माना हुआ

मुक्तात्मा का जो व्यावहारिक सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि ऐश्वर्य के युक्त सगुणरूप उसका भी खण्डन नहीं हो सकता, इसलिए मुक्तात्मा, परमार्थ से चैतन्यमात्र रूप वाला है और व्यवहार में सगुण ब्रह्म रूप वाला है, इस में कोई विरोध नहीं है। ऐसा व्यासजी का मन्तव्य है। ॥७॥

मुक्तात्मा को इस लोक के भोग तो प्राप्त ही हैं; किंतु देह-पात हो जाने पर उसको ब्रह्मलोक के भोगों की प्राप्ति किस साधन से होती है ऐसी शंका के समाधानार्थ आगे का सूत्र ऐसा है।

संकल्पादेव तु तत्श्रुतेः ॥८॥

मुक्त आत्मा को संकल्प मात्र से भोगोंकी प्राप्ति होती है, क्योंकि 'संकल्पादेव' ऐसी श्रुति है।

व्याख्या—दहर-विद्या खण्ड १ श्रुति 'एष आत्मापहतपाप्मा॰' यह आत्मा है, धर्माधर्म से शून्य है तथा जरा-हीन मृत्यु-हीन शोक रहित भोजनेच्छा रहित तृषा रहित सत्यकाम है और सत्यसंकल्प है ॥५॥

'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति॰'—भाष्य (अनात्मज्ञों से भिन्न) जो दूसरे लोग इस लोक में शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार और अपने अनुभव में भी लाकर और इन सत्यकाम नाओं को जानकर परलोक में जाते हैं-उनकी इस लोक में सार्वभौम राजा के समान सम्पूर्ण लोकों में यथेच्छ गति होती है (यह भाष्य है) ॥६॥

इन्द्र विद्या के सातवें खण्ड में श्रुति--'य आत्मापहतपाप्मा॰' इस पर के भाष्य का अनुवाद—जो आत्मा पाप रहित, जरारहित मृत्यु रहित शोक रहित क्षुधा रहित तृषाहीन सत्यकाम और सत्यसंकल्प है जिसकी उपासना अर्थात उपलब्धि के

लिये हृदय पुण्डरीक स्थान बतलाया गया है, जिसमें मिथ्या से अपिहित (ढकेहुए)सत्यकाम सम्यक् प्रकार से स्थित हैं, जिसकी उपासना के साथ साथ रहने वाला ब्रह्मचर्य रूप साधन बतलाया गया है, और उपासना के फलभूत काम की प्राप्ति के लिये मूर्धन्य नाड़ी से गति बताई गई है, उसका अन्वेषण करना चाहिए। शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, वह विजिज्ञासितव्य—विशेषरूप से जानने को इष्ट है अर्थात् अपने अनुभव में लाने के योग्य है। उसके अन्वेषण और विशेषरूप से जानने की इच्छा से क्या होना है। यह बतलाया जाता है, जो उपर्युक्त प्रकार से आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार और अपने अनुभव से भी प्राप्त कर लेता है, उसको समस्त लोकों के भोगों की प्राप्ति और सर्वात्मरूप फल की प्राप्ति होती है—ऐसा प्रजापति ने कहा है ॥१॥

इस प्रकार दोनों ही विद्याओं में उपन्यास या उपक्रम एक जैसा ही है।

१—जबकि दोनों ही विद्याओं की श्रुतियों में आत्मा के निरुपाधिक निर्गुण शुद्ध रूप का और सोपाधिक सगुण रूप का एक ही जैसा वर्णन है और दोनों ही विद्याओं के मध्य की श्रुतियों में संप्रसादनामी आत्मा के देह आदि संघात में आत्म-भ्रान्ति के त्याग से उसके अमृत अभय ब्रह्म एवं उत्तम पुरुष नाम से उसका शुद्ध निर्गुणरूप कहा गया है और दोनों हो विद्याओं के बीच की श्रुतियों में संकल्प मात्र से उसका पितृगण से सम्बन्ध और जगत् क्रीडन् और रमण आदि व्यवहार कहा गया है, तथा दोनों ही विद्याओं को अन्तिम श्रुतियों में आत्मा के ब्रह्म-लोक का वर्णन है, इस प्रकार दोनों ही विद्याओं का उपक्रम और उपसंहार एक ही जैसा है, तब फिर इन्द्र विद्या को परविद्या या निर्गुणब्रह्म-परक

मान लेना यह दोष, सर्वथा ही बुद्धि का ही है।

२—जबकि संपद्याविर्भावः ।। १ ।। आदि चारों सूत्रों में आत्मा को परम ज्योतिर्मय—स्वरुप, मुक्त, आत्मा और अविभागेन दृष्टत्वात् ।।४।। सूत्र में के "तत्वमसि" 'अहंब्रह्मास्मि" आदि महावाक्यों के अनुसार भाष्य ने ब्रह्माभिन्न शुद्ध सच्चिदानन्द मान लिया है तब फिर दोनों ही विद्याओं में निर्गुण और सगुणब्रह्म की उपासना का ही वर्णन है, किन्तु इनमें निर्गुण ब्रह्मज्ञान का वर्णन ही नहीं है—ऐसी मान्यता केवल भ्रान्ति मूलक ही है।

३—जबकि ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।।५।।

इस सूत्र के अवतरणिकारूप भाष्य में "स्थितमेतत् 'स्वेनरूपेण' (८।३।४।) इस दहरविद्या की श्रुति को "संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।।१।। इस सूत्र की जननी या जन्म देनेवाली अर्थात इसकी आधार शिला मान लिया है—या सगुण ब्रह्मविद्या विषय कमाना है। तब फिर इसके विपरीत होकर दहरविद्या को केवलअपरविद्या या सगुण ब्रह्मविद्या मान लेना ऐसा भ्रम भी अपनी बुद्धि का ही है।

४—जबकि अभावं बादरिराह ह्येवम् ।। सूत्र १० ।। इस सूत्र के भाष्य में। 'मेनसैतान् कामान् पश्यन् रमते'—मन से इन कामनाओं को देखता हुआ रमण करता है। (८।१२।५) 'य एते ब्रह्मलोके—ब्रह्मलोक में जो ये भोग संकल्पमात्र से उपलब्ध होते हैं। (१२।६) इन इन्द्रविद्या को श्रुतियों को ब्रह्मलोक के भोगों के विषय में लगाया गया है तब फिर इन्द्र-विद्या को केवल निर्गुण ब्रह्मज्ञान का विषय बताना यह महती भूल है।

५—यदि दहरविद्या में ब्रह्मलोक से अपुनरावृत्ति की सूचक कोई श्रुति नहीं है तो भी दहरविद्या वाले जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी की ब्रह्म लोक से पुनरावृत्ति करने की किसी देवता की भी शक्ति नहीं है।

६—यदि इन्द्र-विद्या के समान दहरविद्या में **'स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाण:'**[१]—वह हंसता क्रीड़ा करता और रमण करता और स्त्री यान अथवा जाति जन के साथ रमण करता हुआ सब ओर विचरता है। (८।१२।३) ऐसी श्रुति नहीं है तो भी दहरविद्या वाले जीवन्मुक्त आत्म-ज्ञानी के हंसना क्रीड़ा करना और रमण आदि भोगों के छीन लेने को कोई भी समर्थ नहीं है।

७—यदि इन्द्रविद्या के **यस्तमात्मानमनुविद्य व्रजन्ति'** जो लोग उस आत्मा को जानकर परलोक में जाते हैं (८।१।६) ऐसी कोई श्रुति नहीं है तो भी इन्द्रविद्या के जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी के शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होने पर उसके संकल्पमात्र से प्राप्त होनेवाले पिता आदि के भोग रूपी सुखों में कोई भी विघ्न करने को समर्थं नहीं है। इसलिये स्थूल देह का पात होने पर इन्द्र-विद्या वाला जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी भी दहर विद्या वाले आत्मा के समान संकल्पमात्र से पिता आदि के संबन्धजन्य आनन्द को भोगता है यह सूत्र का आशय है ॥८॥

पीछे बताया गया था कि दो जीवन्मुक्तियां हैं। उनमें एक जीवन्मुक्ति तो वह है जो कि केवल आत्मज्ञान वाले की इसी लोक में होती है। दूसरी जीवन्मुक्ति वह है, जोकि आत्मज्ञान के सहित सगुण ब्रह्म का उपासक भी है, उसकी जीवन्मुक्ति इस लोक में भी होती है और स्थूल शरीर के त्याग के अनन्तर ब्रह्मलोक में भी वह होती है। जिसका वर्णन ऊपर किया गया है।

(१०) जीवन्मुक्ति में मुक्तिपन का अभाव

शां० भाष्य—**'कथं पुनर्मुक्तस्य०'** भावार्थ—जबकि **'तत्केन कं विजानीयात्०'** वहां किस करके किस को जाने (बृ० ४।५।१५) इस प्रकार की श्रुतियां मुक्त के जानना देखना आदि विशेष ज्ञान

का निवारण करती हैं तब फिर मुक्तः प्रतिज्ञानात्' (४।४।२) इस सूत्र में मुक्तके संकल्प मात्र से पितर आदि आ जाते हैं अथवा वह अनेक शरीरों में प्रवेश करता है इत्यादि ऐश्वर्य (ईश्वरभाव-विभूति या सिद्धि) रूपी जो विशेष ज्ञान है उसको कैसे स्वीकार किया गया। इस प्रश्न का उत्तर व्यास जी कहते हैं—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

श्रुतियों में कहीं पर सुषुप्ति अवस्था को लेकर विशेष ज्ञान का अभाव कथन किया गया है और कहीं पर संपत्ति (कैवल्यमुक्ति) को लेकर उसका अभाव कहा गया है। भाष्य—सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं यत्रैतदैश्वमुपवर्ण्यंते तस्माददोषः—परन्तु जिसमें इस सत्य संकल्प आदि ऐश्वर्य का वर्णन है वह सगुण विद्या की फलस्वरूपा अन्य अवस्था है, इसलिये दोष नहीं है अर्थात् यह विदेह कैवल्य मुक्ति नहीं है। इसलिये इस मुक्त में विशेष ज्ञान का होना, यह दोष का जनक नहीं है।१६।

भामती व्याख्या

स्वाप्ययः आसु काश्चित् श्रुतयः सुषुप्तिमपेक्ष्य काश्चित्तु संपत्तिम् तदधिकारात्। ऐश्वर्यश्रुतयस्तु सगुणविद्याविपाकापेक्षाः मुक्ति अभिधाने तु तदवस्थासत्तेर्यथारुणदर्शने सन्ध्यायां दिवसाभिधानम् ॥१६॥

आनन्दगिरीय व्याख्या

विशेषज्ञानाभावाभिधानं सुप्तिमुक्त्योरन्यतराभिप्रायेण इत्युक्तम्। इदानीमैश्वर्याभिधानस्य सगुणविद्याविषयत्वेन भिन्नगोचरात् न विरोधाशंकेत्याह–सगुणेति। कथं तर्हि सगुण-विद्याफले मुक्ति-शब्द प्रवृत्तिरित्याशंक्याह—संध्यायां दिवाशब्दवत् प्रत्यासन्ति मात्रेण इति मत्वाह–तस्मादिति ॥१६॥

भावार्थ—श्रुतियों में सुषुप्ति और मुक्ति इन दोनों में से एक अवस्था के अभिप्राय से विशेष ज्ञान के अभाव को कहा गया है किन्तु ऐश्वर्य सम्बन्धी श्रुतियां सगुण ब्रह्म की उपासना के फल को बोधन करती हैं। इस प्रकार अपना-अपना विषय भिन्न-भिन्न होने से श्रुतियों में परस्पर विरोध नहीं है। शंका—तब फिर पूर्वोक्त मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।२। इस सूत्र से सगुण उपासक में 'मुक्तः' इस शब्द का और सगुण उपासना के फल में मुक्ति इस शब्द का प्रयोग क्यों किया ? इस शंका का समाधान ऐसे है---जिस प्रकार प्रातःकाल की लालिमा के दर्शन से दिन हो गया, ऐसे ही संध्या को भी दिन कहा जाता है, क्योंकि वह दिन के समीप में ही होती है। परन्तु वह तात्त्विक दिवस नहीं है। क्योंकि वास्तविक दिवस तो सूर्य के उदय होने से ही होता है। ठीक उसी प्रकार सगुण उपासना के फलस्वरूप क्रम विदेह मुक्ति के पूर्वरूप में 'मुक्ति' इस शब्द की प्रवृत्ति हुई है। क्योंकि वह क्रमविदेह कैवल्य के समीप में ही होता है। किन्तु वह कैवल्य मुक्ति नहीं है। इसलिये विशेष ज्ञान के अभाववती जो कैवल्य मुक्ति है वस्तुतः वही मुक्ति है ।।१६।।

विशेष विचार

संकल्पादेव तु तत्श्रुतेः ।।८।। इस सूत्र की व्याख्या में रत्न-प्रभा आदि व्याख्याओं में "एवं 'परविद्याफलमुक्तम् इदानीं अपर विद्याफलं प्रपंचयति" ऐसा पाठ दिया है। किन्तु ऐसा पाठ भाष्य में और भामती व्याख्या में नहीं है। इस पाठ का ऐसा अर्थ माना गया है कि परविद्या या आत्मज्ञान का फल जो विदेहमुक्ति है उसका वर्णन किया गया, अब अपर विद्या या सगुण उपासना का फल जो ब्रह्मलोक की प्राप्ति है उसका कथन किया जा रहा है। ऐसे पाठ से प्रायः बहुत से विद्वानों ने "संपद्याविर्भावःस्वेन शब्दात्"

इत्यादि सात सूत्रों में विदेहमुक्ति मान ली है—इसी से ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य मूलमात्र पर टिप्पणी आदि लिखनेवाले पं० नारायण रूप आचार्य 'काव्यतीर्थ जी' ने 'श्रीमद्ब्रह्म सूत्र विषयोपन्यासः' इस में ऐसा पाठ लिखा है। **चतुर्थपादे पूर्वभागेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तिरुक्ता। उत्तरभागेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोक-प्राप्तिरभिहिता इति।** अर्थ—चतुर्थपाद में पूर्वभाग द्वारा निर्गुण ब्रह्मज्ञानी को विदेहकैवल्य की प्राप्ति कही है। उत्तर भाग से सगुण ब्रह्म के उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति बताई है। इस प्रकार इस विद्वान ने 'संपद्याविर्भावः०" ॥१॥ इत्यादि सात सूत्रों में विदेहमुक्ति को मान लिया है। इसी प्रकार विद्वद्वर्य सन्त निश्चलदास जी ने भी 'विचार सागर' के सातवें तरंग के अन्त में ब्राह्मेण जैमिनि०॥५॥ इत्यादि तीन सूत्रों को विदेहमुक्ति में ग्रहण कर लिया है, किन्तु यह सर्वथा ही भ्रम है। क्योंकि 'सपदि पितृलोक कामो भवति०'—वह यदि पितृलोक को कामना वाला होता है तो उसके संकल्पमात्र से पितर आ जाते हैं ॥१॥ दहर विद्या खण्ड २ की श्रुति में 'स' इस पद का वाच्य अथवा 'वह' इस नामवाला वह व्यक्ति है जो कि दहरविद्या के प्रथम खण्ड की 'एष आत्मा अपहतपाप्मा' ॥५॥ इस श्रुति से निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके ब्रह्म लोक की कामनावाला है और दहरविद्या के ही प्रथम खण्ड की "अथ य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्ति ॥६॥ इस श्रुति से आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेश के अनुसार तथा अपने अनुभव से भी आत्मा का साक्षात्कार करके परलोक गमन करनेवाला है और दहरविद्या के ही तीसरे खण्ड की 'अथायं एषः संप्रसादः॥४॥ इत श्रुति से देह आदि संघातनं आत्मभ्रान्ति को त्याग कर परमज्योति स्वरूप तथा अमृत अभय एवं ब्रह्म हो गया है। वह जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी 'स' या 'वह' इस

नाम वाला है, यदि इसको विदेहमुक्ति की प्राप्ति स्वीकार की जायगी तो शरीर-त्याग के अनन्तर ब्रह्मलोक के जानेवाले अधिकारियों का अभाव होने से श्रुति का 'व्रजन्ति' यह पाठ और संकल्पादेव ॥८॥ यह सूत्र व्यर्थ हो जाता है। इसलिये पूर्वोक्त सात सूत्रों में विदेह मुक्ति को ग्रहण करना यह सर्वथा ही भ्रांति मूलक है। ऐसे तो मेरी अपेक्षा ये सभी विद्वान चित्सुखी और अद्वैत सिद्धि आदि उच्च ग्रन्थों का अध्ययन करके महाविद्वान हो गये हैं और अब भी हैं तो भी मैं यह अवश्य कहूंगा कि इन सभी महाविद्वानों ने छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें अध्याय का अध्ययन सावधानी के साथ नहीं किया है—इसीलिये ये लोग इस अध्याय के दोनों विद्याओं के उपक्रम और उपसंहार की सर्वथा ही उपेक्षा कर पथ भ्रष्ट हो गये हैं और हो रहे हैं किंतु इनका यह भारी प्रमाद है।

परामर्शरूप सम्मति

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

भाष्य—स्थितमेतत् स्वेन रूपेण० (छा०८।३।४) इत्यात्ममात्र-रूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेन अपररूपेण इति। अधुना तु तद्विशेष-बुभुत्सायामभिधीयते। भावार्थ—दहरविद्या के तीसरे खण्ड में श्रुति —'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय स्वेन रूपेणाभि-निष्पद्यत इति'० यह जो संप्रसाद है वह इस शरीर से समुत्थान कर अर्थात् देह' आदि में आत्मभ्रान्ति को त्याग कर परमज्योति को प्राप्त हो अपने स्वरूप से संपन्न हो जाता है। यह आत्मा है अर्थात् अपना स्वरूप है, यही अमृतमय और यही ब्रह्म है ऐसा आचार्य ने कहा ॥४॥ क्योंकि इसने देह का पात होने के अनन्तर ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हो संकल्पमात्र से पितृ आदि भोगों को प्राप्त

करना है। इसलिये उसकी विशेष रूप से जानकारी के लिये कहा जाता है। इस भाष्य के अवतरण में यदि (एवं परविद्याफलमुक्तम् इदानीं अपरविद्याफलं प्रपंचयति) इस पाठ को देकर भाष्य के अनुसार इसका अर्थ किया जाता तो यह पाठ, सुसंगत हो जाता— तब यह पाठ किसी भी प्रकार की भ्रान्ति का कारण न होता। आशा है सत्य के पक्षपाती विद्वान् मेरे इस कथन पर ध्यान अवश्य ही देंगे।

पीछे बताया गया है कि जीवन्मुक्ति वास्तविक मुक्ति नहीं है। अब प्रश्न होता है कि ब्रह्मलोक में प्रविष्ट हुए जीवन-मुक्त उपासकों की क्या कहीं से पुनरावृत्ति हो जाती है कि नहीं—इस प्रश्न का उत्तर आगे के सूत्र में है।

अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्ति शब्दात् ॥२२॥

आवृत्ति नहीं होती है, आवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'—फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता (८।१५।१) ऐसी श्रुति है।।२२॥

विशेष वक्तव्य

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१)इस श्रुति की व्याख्या में किसी किसी व्याख्याकार ने ब्रह्मलोक से भी पुनरावर्तन मान लिया है। उसने कहा है कि प्रलयान्तर में ब्रह्म-लोक वाले का भी पुनरावर्तन होता है, अर्थात् पुनर्जन्म होता है। किन्तु मैं इस बात को स्वीकार नहीं करता। क्योंकि—

१—ब्रह्मसूत्र में ब्रह्मलोक से पुनरागमन का सूचक एक भी सूत्र नहीं है।

२—कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ४।३।१०

भाष्य—कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्न-सम्यग्दर्शनाः सन्तः—भाष्य का अनुवाद—कार्यब्रह्मलोक का प्रलय

प्राप्त होने पर उसमें ही जिन को भली प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे जीवात्मा, उसके अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ इससे पर-परमविशुद्ध विषण्ड, (व्यापक) के परमपद को प्राप्त करते हैं अर्थात् विदेहमुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार क्रममुक्ति का अनावृत्ति आदि श्रुति में कथन होने से स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि परम पद की अर्थात् कैवल्यमुक्ति की साक्षात् ही गतिपूर्वक प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसा हमने उपपत्ति अर्थात् युक्ति द्वारा दिखला दिया है ॥१०॥ इस सूत्र के तथा इस पर के भाष्य के विपरीत होकर यदि किसी भी उपासक की ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति मान ली जायेगी तो यह सूत्र भी व्यर्थ और भाष्य भी व्यर्थ और आत्मज्ञान से मुक्ति मानने वाले सभी शास्त्रीय प्रमाण तथा अनावृत्तिः ॥२२॥ यह सूत्र भी तथा क्रम-मुक्ति मानने वाले सभी वाक्य खण्डित हो जाते हैं। इसलिये ब्रह्मसूत्र के सूत्र तथा भाष्य के अनुसार, ब्रह्मलोक से किसी भी उपासक का पुनरागमन नहीं होता है, यह अटल सिद्धान्त है।

३—संपद्याविर्भावः ॥१॥ इत्यादि चारों सूत्रों में संप्रसाद नामी आत्मज्ञानी को जीवन्मुक्त मान लिया है। ऐसे का भी ब्रह्मलोक से पुनरागमन कथन करना अर्थात् पुनर्जन्म स्वीकार करना, यह तो सर्वथा ही असम्भव कल्पना है। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक से लेकर जितने भी लोक हैं वे सभी पुनरावर्तन वाले हैं, किन्तु हे कौन्तेय ! मुझ को प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता है (गीता ८।१६) गीता में यह श्लोक, वैराग्य को धारण करके ब्रह्मज्ञान पाकर सद्योमुक्ति को प्राप्त करने के अभिप्राय से कहा गया है, किन्तु इसका भाव, ब्रह्मलोक से पुनरावर्तन को बतलाने के लिये नहीं है। इस श्लोक का ऐसा भावार्थ करने से गीता का और ब्रह्मसूत्र का आपस में विरोध मिट जाता है।

(११) उपास्य ब्रह्म के नाम रूप आदि का वर्णन

वेदों के और उनके अनुसारी ईशावास्य आदि दश उपनिषदों के तथा ब्रह्मसूत्र के अनुसार, हिरण्यगर्भ के ब्रह्मा प्रजापति सूत्रात्मा अपरब्रह्म सविशेषब्रह्म उपास्यब्रह्म प्राप्यब्रह्म और स्वयंभूब्रह्म इत्यादि और भी बहुत से नाम हैं। ब्रह्मा जी का सुवर्ण-स्तम्भ के समान देदीप्यमान अर्थात् परमप्रकाशमय शरीर है। आदित्य (सूर्य) मुख्यमण्डल जो ब्रह्मलोक में स्थित है वह ब्रह्मा जी का निवास स्थान है। सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता और सर्वेश्वरता आदि उस के धर्म हैं। जगत की उत्पत्ति आदि करना उसका कर्म है। '**एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषः अन्तर्यामी एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्**'—यह सब का ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी (अन्दर में प्रेरणा करने वाला) है, यही सब का कारण है, निश्चय ही भूतों की उत्पत्ति तथा विनाश करने वाला है (माण्डूक्य ६)

व्याख्या—यह श्रुति प्राज्ञ का ईश्वर के साथ अभेदचिन्तन करने के लिए है। इसलिए ये सर्वेश्वर आदि धर्म, प्राज्ञ में गौण रूप से रहते हैं तथा ईश्वर में मुख्य रूप से वर्तते हैं। क्योंकि ब्रह्मा जी के समान अन्य कोई भी देवता प्राणियों के स्वतन्त्र होकर किए हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल देने वाला नहीं है। इसी से वह सब का ईश्वर या सर्वेश्वर है। ब्रह्मा जी के बुद्धिवृत्तिजन्य ज्ञान के समान, अन्य किसी भी देवता का ज्ञान नहीं है—इसी से वह निरतिशय (असीम) सर्वज्ञ है। पंचदशी प्रकरण १

समष्टिरीशः सर्वे षां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात्त दन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टि-संज्ञया ॥२५॥

ईश ईश्वर या हिरण्यगर्भ, सब जीवों को अपने से अभिन्न जानता है इससे वह समष्टि (सर्वरूप) है, उससे भिन्न जो जीव

हैं वे सब के साथ अपनी एकता का ज्ञान न रखने के कारण व्यष्टि (परिच्छिन्न) नामवाले कहे जाते हैं अर्थात् ईश्वर जो है वह अपनी बुद्धि वृत्ति के ज्ञान द्वारा समष्टि (सर्वरूप है) किन्तु वह शरीर से समष्टि नहीं है. भाव क्या वह सर्वज्ञ है किन्तु सर्वव्यापक नहीं है ।।२५।। स्मरण रखो । जो लोग उपास्य ईश्वर को शरीर से समष्टि बता रहे हैं वे लोग स्वयं अंधेरे में हैं तथा अन्य लोगों को भी अंधेरे में ले जा रहे हैं क्योंकि ईश्वर का अपना शरीर सुवर्ण के समान है, सब जीवों से भिन्न है । सब लोकों से उच्चतम जो ब्रह्म-लोक है वह उसका स्थान है । इसी से वह सर्वव्यापक नहीं है। किन्तु सर्वज्ञ है । क्योंकि ब्रह्मा जी गायत्री आदि मन्त्रों के द्वारा प्रार्थना करने से प्राणियों के मन बुद्धियों को शुभ की ओर प्रेरणा करता है—इसी से वह अन्दर में प्रेरणा करने वाला होने से अन्तर्यामी है । क्योंकि हिरण्यगर्भ भगवान आकाश आदि पांच भूतों की उत्पत्ति करके, उन का पंचीकरण करके प्राणियों के सब से प्रथम होने वाले स्थूल शरीरों का निर्माता है, इसी से वह योनि अर्थात् सब का कारण है । क्योंकि ब्रह्मा जी निश्चय ही सब की उत्पत्ति करके फिर अन्त में सब का विनाश करता है इसी से वह प्रभव और अव्यय ऐसा कहा गया है । (यह श्रुति की व्याख्या है । तैत्तरीय और बृहदारण्यक की श्रुतियों के प्रमाण से ब्रह्मा जी के बुद्धिवृत्तिजन्य आनन्द के तुल्य और कोई भी प्राणधारी आनन्दी नहीं है, इसी से ब्रह्माजी को महानन्दी कहा गया है । पंचाग्निविद्या या दहरविद्या आदि अनेकों विद्या द्वारा या ओंकार के द्वारा वाचक वाच्य रूप से या प्रतीक रूप से या अहंग्रह रूप से ब्रह्मा जी की उपासना की जाती है, इसी से वह उपास्यब्रह्म माना गया है । ब्रह्माजी की प्राप्ति उत्तरायण मार्ग द्वारा की जाती है इसी से वह प्राप्यब्रह्म कहा हुआ है ।

बृहदारण्यक के द्वितीय अध्याय के छठे ब्राह्मण के अन्त में और चतुर्थ अध्याय के छठे ब्राह्मण के अन्त में तथा छठे अध्याय के पांचवें ब्राह्मण के अन्त में **'ब्रह्मा स्वयम्भू ब्रह्मणे नमः'** ब्रह्मा जी स्वयम्भू है अर्थात् किसी की नाभिकमल से उत्पन्न होने वाला नहीं है, किन्तु स्वयं (अपने आप) प्रकट होने वाला है ऐसे ब्रह्मा जी को नमस्कार है। ऐसा कहते हुए ब्रह्मा जी को ब्रह्मविद्या की वंश-परम्परा का सब से प्रथम प्रधानाचार्य माना हुआ है। ब्रह्मा जी के सत्यकाम आदि धर्मों को अपने में धारण करने वाला मनुष्य, स्वयं भी सत्यकाम आदि धर्मों वाला हो जाता है। वह इस लोक में भी सत्यकाम आदि धर्मों वाला होता है और वह शरीर का त्याग करने के अनन्तर ब्रह्मलोक में भी ब्रह्मा जी के समान भोगों को भोगने वाला होता है।

अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्व। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्व ना ३ भायि०' जो प्रत्यक्ष दीखने वाले जगत की अपेक्षा से सब से प्रधान हो कर उत्पन्न होने वाला है और जो देवताओं से पहले प्रकट होने वाला तथा अमृत का केन्द्र हिरण्यगर्भ है वह मैं हूं (ऐसी उपासना करे) (तैत्तरीय अनुवाक १०) इस मन्त्र से तथा उपर्युक्त वेद आदि के अन्य मन्त्रों के प्रमाणों से निर्गुण शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ज्येष्ठ पुत्र तथा विश्व भर के देवताओं का पिता जो हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा जी है वही उपास्य अर्थात् उपासना करने के योग्य ब्रह्म है ऐसा सिद्ध हुआ है।

विशेष विचार

'सदेव०' हे सौम्य ! पहले यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था छा० (६।२।१) 'आत्मा वा०' पहले यह एकमात्र आत्मा (चैतन्य) ही था और कुछ भो नहीं था (ऐतरेय १) **'अत्र पिता अपिता भवति** —सुषुप्ति में पिता भी पिता नहीं रहता (बृ० ४।३।२२) **'द्वे वाव**

ब्रह्मणो रूपे'—सच्चिदानन्द ब्रह्म के दो रूप हैं। इन में एक तो सूर्य स्थानी अधिदैव हिरण्यगर्भ उपास्य ब्रह्म है और दूसरा अध्यात्म स्थानी मनुष्यरूप उपासक है (बृ० २।३।१ से ५ तक) 'अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्' यह आत्मा ब्रह्म है, वह (सूर्यस्थानी अधिदैवरूप हिरण्यगर्भ उपास्य ब्रह्म) और यह (अध्यात्मस्थानी मनुष्यरूप उपासक) चार पादों वाला है। (मांडूक्य १) 'स एत-स्माज्जीवघनात्' वह इस पररूप जीवघन से परम पुरिशय पुरुष को देखता है (प्रश्न० ५।५) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर पंचदशी में ऐसी प्रक्रिया है। (महाप्रलय की मध्य अवस्था में सच्चिदानन्द का स्वरूप, स्वगत आदि तीन भेदों से रहित शुद्ध निर्गुण ब्रह्म था। उस की अन्तिम अवस्था में वह शुद्ध सत्वगुणप्रधान माया रूपी अहं (मैं) वृत्ति से युक्त हो कर ईश्वर हो गया। सूक्ष्म शरीर में प्रधान महत्तत्व रूपी अहं (मैं) वृत्ति के सहित होकर वही सच्चिदानन्द ईश्वर के द्वारा हिरण्यगर्भ हो गया। हिरण्यगर्भ ने आकाश आदि पांच स्थूल भूतों की उत्पत्ति करके और उन का पंचीकरण करके अपने लिए सूर्यरूप स्थूल शरीर बना कर तथा अन्य प्राणियों के देव दानव एवं मानव आदि स्थूल शरीर बनाए। (सूर्यस्थानी स्थूल शरीर में प्रधान जो अहंकार रूपी अहं (मैं) वृत्ति है उस से वह सच्चिदानन्द ईश्वर, हिरण्यगर्भ के द्वारा वैश्वानर नाम वाला हो गया। इस प्रकार ब्रह्म ईश्वर हिरण्यगर्भ और वैश्वानर सच्चिदा-नन्द के चारों पाद अधिदैव अर्थात् सूर्यदेवता विषयक कहे जाते हैं।

सुषुप्ति की मध्य अवस्था में सच्चिदानन्दात्मा स्वगत आदि तीन भेदों से रहित शुद्ध पूर्ण निर्गुण ब्रह्म होता है। उस की अन्तिम अवस्था में वही सच्चिदानन्द ब्रह्म, मलिन सत्वगुणप्रधान कारण शरीररूपी अहं (मैं) वृत्ति के सहित होकर 'प्राज्ञ' नाम वाला हो जाता है। सूक्ष्म शरीर में प्रधान जो बुद्धि है इसके सहित

होकर वही सच्चिदानन्दात्मा, प्राज्ञ के द्वारा तैजस इस नाम वाला हो जाता है। स्थूल शरीर में प्रधान जो मन है इसकी उपाधि से वही सच्चिदानन्दात्मा, तैजस के द्वारा विश्व ऐसे नाम वाला हो जाता है। पंचदशी में ऐसी प्रक्रिया है।

१ किन्तु इस प्रक्रिया के सर्वथा ही विपरीत हो कर किसी अद्वैतवादी विद्वान ने ऐसी नवीन प्रक्रिया बना दी है। वह प्रक्रिया ऐसी है-जिस प्रकार एक वृक्ष को 'वृक्ष है' ऐसी संज्ञा होती है, किन्तु वृक्षों के समूह का नाम वन हो जाता है—उसी प्रकार एक विश्व तो विश्व ही रहता है किन्तु विश्वों की समष्टि का नाम वैश्वानर है, और तैजसों की समष्टि का नाम हिरण्यगर्भ है एवं प्राज्ञों के समुदाय का नाम ईश्वर है। उसने उपनिषदों के सर्वथा ही प्रतिकूल ऐसी प्रक्रिया बना डाली है। इस प्रक्रिया के निर्माता ने स एतस्माज्जीवघनात्०' इस श्रुति का ऐसा अर्थ करना था कि जिस प्रकार राजा के बुद्धिवृत्तिजन्य ज्ञान में गुप्तचरों के द्वारा सम्पूर्ण प्रजा के जीव घनीभूत होकर रहते हैं—उसी प्रकार सर्वज्ञता के कारण ईश्वर के बुद्धिवृत्तिजन्य ज्ञान में सब सृष्टि के जीव घनीभूत होकर रहते हैं। किन्तु उक्त श्रुति का ऐसा अर्थ न करके विच्छू कच्छू मक्खी मच्छर सांप सिंह और बाघ आदि भयंकर जीवों को भी ईश्वर का शरीर बना दिया। तब फिर बताइये ऐसे भयंकारी ईश्वर की उपासना कोई कैसे कर सकता है। इस प्रक्रिया ने बहुत से वेदान्ती लोगों को भी ईश्वर की उपासना से वंचित कर दिया है। महाविद्वान होते हुए भी सन्त निश्चलदास जी की बुद्धि को भी विचलित कर दिया। इसी से उन्होंने विचारसागर के छठे तरंग में ऐसा पाठ लिखा है—**'तत्त्वमसि'** महावाक्य में लक्षणा दिखावने को तत्पद का और त्वपद का वाच्यार्थ दिखावें हैं—

सर्वशक्ति सर्वज्ञ विभु ईश स्वतन्त्र परोक्ष ।
मायी तत्पर वाच्य सो जामें बन्धन मोक्ष ।। दोहा३७।।

प्रिय पाठको ! इस दोहे में सन्तजी ईश्वर को विभु (व्यापक) भी मान रहे हैं और इसमें लक्षणा करने को भी तैयार हो रहे हैं तथा ईश्वर को तत् इस पद का वाच्य भी बता रहें हैं और उसको बन्ध मोक्ष से रहित भी बता रहे हैं किन्तु ये दोनों ही बातें असंभव हैं। सातवें तरंग के अन्त में ऐसा पाठ है—ब्रह्माण्ड सारा ईश्वर शरीर माया के अन्तर्भूत है। विद्वान् का आत्मा विदेह मोक्ष में ब्रह्मांड से बाहर गमन करे नहीं, याते ईश्वर से अभेद होवे है। ऐसा लिखते हुए सभी जीवों के शरीरों को ईश्वर का शरीर बना दिया है और शुद्ध ब्रह्म को ब्रह्मांड से बाहर मान लिया है। जबकि ऐसे उच्च कोटि के विद्वान को भी सूर्यस्थानी उपास्य ईश्वर का पता नहीं लग सका तब फिर विचारसागर के पाठकों को उपास्य ईश्वर का ज्ञान नहीं हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। यह प्रक्रिया बरात से वर को भिन्न न करने के समान और प्रजा से राजा को भिन्न न करने के तुल्य उपासक जीवों से उपास्य ईश्वर को भिन्न करने में असफल रही है। इसलिये यह प्रक्रिया उक्त प्रकार से व्यर्थ सिद्ध हुई है।

ऐसे ही पुराणों के लेखकों ने भी उपनिषदों के सर्वथा ही प्रतिकूल होकर पुराणों में पांच देवताओं में ईश्वर की कल्पना करके और उनमें भी एक से दूसरे में महेश्वर की कल्पना कर—के तथा उनके भिन्न-भिन्न लोकों की कल्पना करके उनकी पूजा को चालू किया है। ब्रह्माजी को गायों की और बछड़ों की चोरी करने से अज्ञानी लिख दिया है। सती और शिव का विवाह कराते समय सती के रूप को देखकर कामातुर होने से ब्रह्मा को महा-

विषयी, महाकामी लिखा हुआ है। पत्थर के आकार वाले शिव-लिंग का अन्त लेने के विषय में असत्य बोलने से ब्रह्मा को मिथ्यावादी लिखा हुआ है। स्तुति करने में तो ब्रह्मा को भाटों के शिरोमणि जो भाट है उसके जैसा लिखा हुआ है। इसी से आज किसी भी संस्था में ब्रह्मा की उपासना का आचार तथा प्रचार नहीं है। बहुत से वेदान्ताचार्य साधुसन्त लोग भी पुराणों से प्रभावित होकर ब्रह्माजी की उपासना से सर्वथा ही विमुख हो गये हैं और भी होते ही जा रहे हैं। ऐसे तो ये लोग बड़े-बड़े वेदान्त-सम्मेलनों में उपनिषदों के अनुसार ही प्रचार करते हैं तो भी इनका जो आचार है यह तांत्रिक और पौराणिक ही है जोकि चण्डी आदि की उपासना है। किन्तु ऐसा करना अन्याय ही है।

१—जब तक ईश आदि दश उपनिषदों का तथा पंचदशी इस ग्रन्थ का भारत में पठन-पाठन बना रहेगा तब तक नयी-नयी अनेकों प्रक्रियाओं को बनाने वाले लोग, ब्रह्माजी के उपास्यरूप को झमेले में सर्वथा ही नहीं डाल सकेंगे।

२—जब तक ईश आदि उपर्युक्त ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन बना रहेगा तब तक पुराणों के लेखकों का ब्रह्माजी के सम्बन्ध में अश्लील चरित्रों को लिखकर उसको कलंकित करके उसकी उपासना को खण्डन करने का दुष्प्रयत्न सफल नहीं हो सकेगा।

३—जब लग सभी मण्डलों में प्रधान जो सूर्यमण्डल है वह विश्व में उदय होता रहेगा तब तक ये सभी नास्तिक लोग अपना सारा बल लगा कर भी ईश्वर के निवासस्थान सूर्यमण्डल को नष्ट-भ्रष्टकरके ईश्वर को शरणार्थी बना कर विश्व के बाहर नहीं भगा सकेंगे। अस्तु।

पीछे बताया गया है कि महाप्रलय के आगमन में ब्रह्मा जी की भी विदेहमुक्ति होती है। इसका कारण यही है कि जितने भी

शरीर हैं वे सभी प्राणियों के किए हुए अपने-अपने कर्मों से ही निर्माण किए जाते हैं। 'यत्कृतकं तदनित्यम्'—जो जो भी कार्य होता है वह अनित्य ही होता है। इस न्याय के अनुसार ब्रह्मा जी का भी शरीर अनित्य हो है। इसलिए ब्रह्मा जी के भी शरीर का नाश होता है। जो लोग कहते हैं कि शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि महाप्रलय में अमुक व्यक्ति के शरीर का नाश नहीं होता है, वह अमर है, उनके ऐसे शास्त्रों को अपने कल्पित किये मानना चाहिए, और उस व्यक्ति के ऐसे कथन को सर्वथा ही व्यर्थालाप मानना चाहिए। क्योंकि **'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरं आत्तं मृत्युना०'** (प्रजापति ने कहा—) 'हे इन्द्र ! यह शरीर मरणस्वभाववाला है इसीसे यह मृत्यु से ग्रसा हुआ है (छा० ८।१२।१) इस श्रुति के प्रमाण से प्राणधारीमात्र का शरीर मृत्यु से ग्रसा हुआ है। इसलिये महाप्रलय के आ जाने से किसी का भी शरीर नहीं रहता है। महाप्रलय के अनन्तर दूसरी सृष्टि के आरम्भ में विश्व भर के देव दानव मानव पशु पक्षी डांस मच्छर और स्तम्भ पर्यन्त जितने भी शरीर हैं वे सभी स्थूल शरीर, प्राणियों के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नवीन ब्रह्मा जी के द्वारा बनाए जाते हैं। ब्रह्मलोक निवासी जो जीवन्मुक्त आत्मा थे वे सभी ब्रह्मा जी के सहित ही सृष्टि का अन्त हो जाने पर विदेहमुक्त हो जाते हैं। फिर उनका सृष्टि के आरम्भ में जन्म नहीं होता है, यह शास्त्रसंमत सिद्धान्त है।

(१२) कृतज्ञता प्रकट करना

छान्दोग्य० के छठे अध्याय के आठवें खण्ड के भाष्य नें मुझे बतलाया कि ब्रह्मवेत्ता लोग, सुषुप्तावस्था को छोड़ कर अन्य किसी भी अवस्था में जीव की स्वरूप-प्राप्ति को स्वीकार नहीं करते। छान्दोग्य अध्याय ८ के भाष्य ने मुझे बोध कराया कि संप्रसाद स्थान अर्थात् सुषुप्ति ही तुम्हारा परमानन्द स्थान है। तथा इसी

अध्याय में दहरविद्या और इन्द्रविद्या ये दोनों ही विद्याएं पररूपा और अपररूपा हैं, किन्तु इन में से कोई भी एक विद्या केवल पररूपा अथवा केवल अपररूपा नहीं है। वृहदारण्यक अध्याय ४ ब्राह्मण ३ श्रुति ३३ पर के भाष्य ने मुझ को बताया कि संप्रसाद स्थान ही मोक्ष का दृष्टान्तभूत है। इस प्रकार के भाष्य से मेरे ज्ञान की वृद्धि हुई है। इसलिये अपने ऊपर किए हुए उपकार के लिये मैं असली श्री स्वामी शंकराचार्य जी महाराज की कृतज्ञता प्रकट करता हूं। २ पंचदशी के प्रथम प्रकरण में २५वें श्लोक ने मुझे बताया कि सूर्यस्थानी वेदोक्त ईश्वर, महत्तत्त्व बुद्धि-वृत्ति रूपी ज्ञान द्वारा समष्टि है, किन्तु वह सब जीवों के शरीरों की समष्टि यानी समुदाय नहीं है। योगानन्द के ४४-४५ श्लोकों ने मेरे को समझाया कि सुषुप्ति को आदि मध्य और अन्त इस प्रकार सुषुप्ति का विभाजन किए बिना हमारा संगत अर्थ सर्वथा ही नहीं हो सकेगा, इसलिए हे वत्स! सुषुप्ति का विभाजन करके इसमें आत्मा के निर्गुण रूप को और सगुण रूप को कहनेवाली श्रुतियों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो। इसलिए मैं श्री स्वामी विद्यारण्य तीर्थ जी महाराज का कृतज्ञ हूँ। ३—आत्म-पुराण के श्लोकों ने मुझे बताया कि सुषुप्ति में आत्मा, स्वगत आदि तीन भेदों से रहित एवं परमानन्द रूप होता है। बस यही परमसम्पत्ति, परमगति, परमलोक और परमानन्द है, इसी को श्रवण, मनन आदि और ब्रह्मचर्य आदि साधनों द्वारा प्राप्त करो। इस प्रकार दीर्घ सुषुप्ति को ही विदेहमोक्ष बताकर मुझे मुक्ति का वास्तविक स्वरूप बताया है। इसलिए मैं श्री स्वामी शंकरानन्द सरस्वती जी महाराज का कृतज्ञ हूँ—अर्थात् अपने ऊपर किए हुए उपकार को जानता हूं। ४—जिन महानुभावों ने सत्य के पक्षपाती होकर इस पुस्तक पर भूमिका तथा सम्मतियां लिख कर पुस्तक को गौरवान्वित किया

है, मैं उन महानुभावों का भी बहुत बहुत धन्यवादी हूं तथा आज की भाषा के अनुसार उनका मैं आभारी हूँ। ५—'विचार-सागर के अन्तिम सिद्धान्त का निराकरण' इस पर सहमतिरूप सम्मति लिखने वाले राष्ट्रभाषा-पतञ्जलि श्री स्वामी निगमानन्दजी का मैं बहुत बहुत ही कृतज्ञ हूं। ६—'शास्त्रीय धर्म दिवाकर' इस पर समीक्षा लिखने वाले भूतपूर्व गुरुकुल पत्रिका के सम्पादक महानुभाव पं० श्री धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड का मैं बहुत बहुत कृतज्ञ हूँ। ७—**श्रीमन्तो महामहिमशालिनः स्वामिनः नमो वः। 'वैदिकभक्ति-ज्ञानफलमवाप्तम्'। अतः परं किमवशिष्टं लोके कर्तुम्। शोभनः खलु श्रीमतां प्रयत्नोऽत्र विषये।** *(नरदेव शास्त्री वेदतीर्थः)* ऐसा प्रशंसा-पत्र लिखने वाले महानुभाव पं० श्री नरदेव जी शास्त्री वेद-तीर्थ, गुरुकुल महाविद्यालय,ज्वालापुर के कुलपति की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ। ८—'वैदिक ब्रह्म विचार' लेखक श्री रामतीर्थ जी दण्डी स्वामी) भारत सदियों से अध्यात्मज्ञान का केन्द्र रहा है। यहां अनेकों दार्शनिक सन्तों ने जन्म लिया, उसी का फल यह हुआ कि भारत में दर्शन की विभिन्न विचारधाराएं प्रवाहित हुईं। शंकर के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, माधवाचार्य के द्वैतवाद और महर्षि के त्रैतवाद, इन सभी वादों ने भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि को परिपुष्ट किया। परन्तु इन वादों में फंसा हुआ एक जिज्ञासु किस वाद को स्वीकार करे यह एक बड़ी भारी समस्या उसके सामने आ जाती है। प्रस्तुत पुस्तक में श्री स्वामी जी ने इसी विषय को दृष्टि में रखा है। एक जिज्ञासु के मार्ग में जो भी शंकाएं सम्भव हैं उन सभी का समाधान करने का इस पुस्तक में सफल प्रयास किया गया है। भारतीय-दर्शन क्षेत्र में ऐसी शंका समाधान युक्त पुस्तकों का बहुत अभाव है, जिसकी पूर्ति इस पुस्तक से बहुत कुछ हो सकती है। लेखक, शंकर के अद्वैतवाद से

अधिक प्रभावित हुए दीखते हैं और शांकरवेदान्त का ही आधार लेकर ब्रह्म का विचार किया है तथा दुरूह विषय को सरल बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। पुस्तक की भाषा सरल और सुबोध है।) ऐसी समालोचना 'वैदिक धर्म (मासिक) इस नाम के पत्र में लिखने वाले स्वाध्याय-मण्डल (पारडी सूरत) का मैं बहुत २ धन्यवादी हूँ। ६ "मनुस्मृति आदि शास्त्रों का काल' लेखक श्री रामतीर्थ जी दण्डी स्वामी। (विद्वद्वर्यैः श्रीदण्डिस्वामिरामतीर्थ-महाभागैः हिन्दीभाषायां लिखितं समीक्षात्मकं पुस्तकमिदं समीक्षार्थं मस्माभिः समुपलब्धम्। अस्मिन् पुस्तके श्री स्वामिमहाभागैः समालोचनात्मकदृष्ट्या यत्सम्यक् साधुविवेचनं विहितं तस्य यावती प्रशंसा विधीयेत सापि अल्पीयस्येत्येव मन्तव्यम्। पुस्त-केऽस्मिन् पूर्वं श्लोकानामाशयोऽर्थो वा संक्षिप्य प्रदत्तस्तदनु समीक्षा विहिता। सूक्ष्मदृष्टीनां विवेचनपटूनां सूरीणां दृष्टौ यत्र तत्र का-चिद् विप्रतिपत्तिः भवितुमर्हति परं समीक्षात्मिका साधुदृष्टि प्रदत्ता स्वामिवर्यैरित्यत्र नास्ति संशीति लेशोऽपि। अस्मन्मते पुस्तकस्य नाम 'मनुस्मृति आदि शास्त्रों में प्रक्षेप' पुस्तकस्याशयमधिकं व्यनक्ति। एतद्विधातव्यम्। सधन्यवादं प्रणतिपुरस्सरं च वयं स्वामिमहाभागं विनिवेदयामो यत् अन्येषामपि प्राक्तनग्रन्थानामुपरि समालोचनात्मकदृष्ट्या लेखनीयं येन हिन्दुजातेर्महानुपकारो भवेत्। अन्यच्चास्माकमयं परामर्शोऽपि विद्यते यत समीक्षायां यदि सम्भवेत् मन्त्राः मन्त्रभागाः वापि प्रदातव्याः। अनेन सुवर्णसौरभमिति सूक्ति-श्चरितार्थतां यास्यति। तथापि समीक्षाप्रगल्भैः स्वामिवर्यैः मनुस्मृ-त्यादीनां प्रभावोत्पादिका समीक्षा विहिता। साधुवादार्हाः स्वामि-वर्याः—भगवद्दत्त वेदालंकारः) सत्य के पक्षपाती हो कर ऐसी वास्तवी (सही सही) लेखक के हर्षवर्धिनी समीक्षा लिखने वाले गुरुकुल पत्रिका के सम्पादक महानुभाव पं० श्री भगवद्दत्त जी

वेदालंकार को मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ उनका धन्यवादी हूँ। १०—इस प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशक राजपुष्पा 'सोनी' के तो मैं सदा ही सुखी जीवन की इच्छा करता हूँ, क्योंकि इस धर्मनिष्ठ परिवार ने अपने मन्दिर में सुखपूर्वक रहने के लिए मुझ को चालीस वर्ष से निवास दिया हुआ है।

जिससे कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के तत् इस पद से शांकर भाष्य ने मन आदि से रहित सच्चिदानन्द के शुद्ध निर्गुण ब्रह्म रूप को ग्रहण किया है और त्वं इस पद से मन आदि के सहित होने से उसी सच्चिदानन्द के सगुण जीव रूप को ग्रहण किया है। इसी से इस वाक्य का शुद्ध सत्वगुण-प्रधान मायाविशिष्ट सगुणब्रह्म के साथ एक रत्ती भर भी सम्बन्ध नहीं है—ऐसा दर्शाने के लिए ही छान्दोग्य के छठे अध्याय का अर्थ संक्षेप में लिखा जा रहा है।

(१३) छान्दोग्य० के छठे अध्याय का सारभूत अर्थ

पहला खण्ड

अरुणि के पुत्र उद्दालक ने गुरुकुल से अध्ययन समाप्त कर आए हुए अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—'हे सौम्य! (सौम्य नाम प्यारे का है, इसी से आज की भाषा के अनुसार इसका प्यारे ऐसा अर्थ लिखना ही ठीक होगा) हे प्यारे! तूंने अपने गुरु से वह आदेश (उपदेश) पूछा है जिस के द्वारा न सुना हुआ, भी सुना हुआ हो जाता है और न मनन किया हुआ भी मनन हुआ हो जाता है तथा न जाना हुआ भी विशेष रूप से जाना जाता है। यह सुनकर पुत्र ने कहा—हे भगवन्! वह आदेश कैसा है? पिता ने कहा—हे प्यारे! जैसे एक मृत्तिका के (मिट्टी के) पिण्ड के ज्ञान द्वारा उसके सारे ही मिट्टीके घट आदि कार्यों का ज्ञान हो जाता है और जैसे एक सुवर्ण का ज्ञान होने से उसके सारे ही कड़े कुण्डल आदि रूप कार्य

जानलिए जाते हैं तथा जिस प्रकार एक लोह-पिण्ड के ज्ञान द्वारा उसके सारे ही लोहमय पात्रों का ज्ञान हो जाता है और इन से बने हुए घट आदि कुण्डल आदि और चिमटा आदि सभी कार्य वाणी का विलासमात्र हो जाते हैं। सत्य तो इनके मूल कारण मिट्टी आदि ही होते हैं। हे प्यारे! ऐसा ही वह आदेश है। पुत्र बोला—हे पिता जी! मैं यह निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि वे मेरे गुरुदेव इस विषय को जानते होंगे। इसलिए उस आदेश को आप ही कहिए। पिता ने कहा—प्यारे! अच्छी बात है। (खण्ड १)॥

दूसरा और तीसरा खण्ड

पिता ने कहा—हे प्यारे(सदेव सौम्येदमग्र०) पहले यह संसार एकमात्र अद्वितीय सत् ही था अर्थात् स्वगत आदि तीन भेदों से रहित केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही था। उसने इच्छा की मैं बहुत हो जाऊं और अनेक प्रकार से हो जाऊं। ऐसी इच्छा करके उस देवता ने (क्योंकि इस खण्ड में सत् का नाम देवता भी कहा गया है) तेज जल और पृथ्वी इन तीन भूतों की उत्पत्ति की। फिर उनका त्रिवृतकरण अर्थात् एक दूसरे को मिलाकर उनके स्थूल रूप तीन पदार्थ बना दिये। फिर उसने इच्छा की मैं इनमें जीव रूप से प्रवेश करके इनके नाम और रूप को प्रकट करूं। ऐसी इच्छा करके उस देवता ने उनमें जीव रूप से प्रवेश करके उनके नाम रूपों को प्रकट किया। (खण्ड २।३)

खण्ड—चार, पाँच, छ, सात

अग्नि का आदित्य का चन्द्रमा का और विजली का जो लाल रूप है वह तो तेज का है और जो इनमें सफेद रूप है वह जल का है तथा इनमें जो काला रूप है वह पृथ्वी का है। हे प्यारे। अन्न से मन की शक्ति बढ़ती है, जल से प्राणों को बल मिलता हैं और घी आदि चिकने पदार्थों से वाणी की शक्ति बढ़ती है।

इस प्रकार दूसरे खण्ड से लेकर सातवें खण्ड पर्यन्त एक ही अद्वितीय सत् से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

१. विशेष विचार

परन्तु **'तत्त्वमसि'** इस वाक्य का उपदेश उसने इसलिए नहीं दिया है कि मेरा यह पुत्र कहीं इस वाक्य का उल्टा अर्थ न समझ जाए। क्योंकि यदि सातवें खण्ड के अन्त में **'तत्त्वमसि'** इस वाक्य का उपदेश दिया जाता तो इस वाक्य का ऐमा अर्थ हो सकता था कि सृष्टि की उत्पत्ति से पहले जो एक ही अद्वितीय सत् था, फिर जिसने ईक्षण या इच्छा करके तेज जल और पृथ्वी की उत्पत्ति करके उनका त्रिवृतकरण—उनमें जीव रूप से प्रवेश किया। **'तत्त्वमसि'** तत् (तस्मै) त्वं (तूं) असि (है) अर्थात् उसी की भक्ति के लिये तूं है। या तत् (तस्मात्) त्वं (तू) असि (है) अर्थात् उसी से तू पैदा हुआ है। या तत् (तस्य) त्वं (तू) असि (है) अर्थात् उसी का तू है। या तत् (तस्मिन्) त्वं (तू) असि (है) अर्थात् उसी में तू है ऐसा हो सकता था। ऐसा अर्थ होने से यह प्रकरण केवल ईश्वर का गुण-कीर्तन मात्र हो जाता, किन्तु इसका आत्म-ज्ञान से कुछ भी संपर्क न रहता। इसीलिये उद्दालक ने श्वेतकेतु को तत्त्वमसि का उपदेश नहीं किया। अब उद्दालक जी आठवें खण्ड में सुषुप्ति अवस्था में जाग्रत में और मरण में सत् की स्थिति बताकर **'तत्त्वमसि'** इस वाक्य का उपदेश करेंगे—जिससे श्वेतकेतु को मैं ही सत् ब्रह्म हूँ ऐसा निस्संदेह वोध होगा।

२. विशेष विचार

उद्दालक ने विचारा कि मेरे इस पुत्र ने वैदिक अग्निहोत्र आदि निष्काम कर्म करके अपने अन्तःकरण के राग द्वेष नामी मल रूप दोषों को निवृत्त किया है तथा ओंकार के द्वारा ईश्वर की

भक्ति करके इसने मन के विक्षेप नामी चंचलता रूपी दोष को निवृत्त कर डाला है। रहा अब तीसरा आवरण नामक दोष-यह आत्मा के और अनात्मा के विवेक से दूर होता है। एवं आत्मा का और अनात्मा का ज्ञान, श्रवण मनन और निदिध्यासन नाम के तीन साधनों से होता है। इसलिए इस पुत्र को जिससे यह आत्मा के शुद्ध रूप को जान सके ऐसा उपदेश करना चाहिये किन्तु इसको ऐसे भयंकर चक्र में डाल देनेवाला उपदेश नहीं करना चाहिये। जैसाकि शुद्ध सत्व गुण प्रधान माया में जो चेतन का आभास है वह 'तत्' इस पद का वाच्य ईश्वर है, अर्थात माया चेतन और आभास इन तीनों का समुदाय रूप ईश्वर तत् पद का वाच्य है। मलिन सत्वगुणप्रधान अविद्या में जो चेतन का आभास और चेतन इन तीनों के मेल से त्वं पद का वाच्य जीव कहलाता है। इन दोनों तत् और त्वं में से माया और अविद्या का भाग-त्याग-लक्षणावृत्ति के द्वारा त्याग करके दोनों स्थानों का चेतन लक्ष्य भाग में एक हो जाता है। ऐसे भयंकर चक्र में इस प्रिय पुत्र को नहीं डालना चाहिये। क्योंकि ईश्वर का सम्बन्ध तो उपासना तक ही है। किन्तु आत्म-ज्ञान के प्रकरण में तो ईश्वर का नाम तक भी नहीं आना चाहिये। केवल आत्मा का ज्ञान, यही अर्थ आत्म-ज्ञान का सुसंगत करना चाहिए। इसीलिये उद्दालक जी अब आठवें खण्ड का आरम्भ करते हैं।

आठवां खण्ड

'उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच०'—अरुण के पुत्र उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—हे प्यारे! तू मेरे द्वारा स्वप्नान्त (सुषुप्ति) को विशेष रूप से समझ ले, जिस अवस्था में यह पुरुष 'सोता' ऐसा कहा जाता है उस समय हे प्यारे! यह सत् से सम्पन्न हो जाता है—यह अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता

है, इसीसे इसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं, क्योंकि यह 'स्व' अपने को 'अपीत' प्राप्त हो जाता है। शां० भा०—न हि अन्यत्र सुषुप्तात्—ब्रह्मवेत्ता लोग, सुषुप्ति अवस्था को छोड़ कर अन्य किसी अवस्था में जीव की स्वरूप-प्राप्ति को स्वीकार नहीं करते। भाष्य—यत्र तु स्वप्नात् पश्यति—किन्तु जिस अवस्था में सोया हुआ पुरुष स्वप्न देखता है वह स्वप्नदर्शन सुख-दुःख से युक्त होता है। इस लिए वह पुण्य पाप का कार्य है, क्योंकि पुण्य पाप को हो सुखदुख की आरम्भकता प्रसिद्ध है। किन्तु जो पुण्यपाप को सुखदुख और उसके दर्शन रूप कार्य की आरम्भकता है, वह अविद्या और कामना के आश्रय से ही सम्भव है और किसो प्रकार से नहीं। इसलिए स्वप्न जो है वह संसार के हेतुभूत अविद्या कामना और कर्म इन से युक्त ही है। अतः उस अवस्था में जीव, अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। जैसा कि (उस अवस्था में) वह पुण्य से असम्वद्ध तथा हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार किए होता है, इसका वह यह रूप 'अतिछन्दा' (काम, धर्माधर्म और अविद्या से रहित) है। इस प्रकार भाष्य ने सुषुप्ति में अविद्या काम और कर्म का अभाव बताया है। शां० भा०—जीवात्मना—नाम रूप को प्रकट करने के लिए मन में जीव रूप से प्रविष्ट हुआ परमात्मा वह मन नामक जीव रूप को त्याग कर अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भाष्य ने मन को ही जीव माना है। भाष्य—मनसि प्रविष्टं—मन में प्रविष्ट हुआ परमात्मा मन आदि के सम्बन्ध से किए हुए जीव रूप को त्याग कर अपना जो परमार्थ सत्य सद्रूप है उसे प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भाष्य ने सुषुप्ति में जीव को अपने वास्तविक सत्य सद्रूप की प्राप्ति बताई है। जिसके लिए किसी भी प्रकार की लक्षणावृत्ति के लिए अवकाश नहीं है।

इस में दृष्टान्त के लिए अब दूसरी श्रुति को पढ़ना चाहिए।

'यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः'—जैसे डोरी से बन्धा हुआ पक्षी, दश दिशाओं में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बन्धन स्थान का ही आश्रय लेता है—उसी प्रकार निश्चय ही हे प्यारे! यह मन (जाग्रत स्वप्न रूपी) दिशा विदिशाओं में भ्रमण कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर प्राण का ही आश्रय लेता है। क्योंकि हे प्यारे! मन जो है यह प्राण रूप बन्धन वाला है अर्थात् इसका सत् ही आश्रय है। ।।२।। इस प्रकार श्रुति ने सुषुप्ति के शुद्ध निर्गुण सदात्मा से जाग्रत स्वप्न रूपी सृष्टि की उत्पत्ति बतला कर फिर सुषुप्ति के सत् में ही सृष्टि का बाध करके उसका शुद्ध रूप दिखा दिया है। इसके आगे की 'अशनापिपासे०' इत्यादि श्रुतियों का भावार्थ ऐसा है—हे प्यारे! तू मेरे द्वारा भूख और प्यास को जान। जिस समय यह पुरुष कुछ खाता है और पीता है तब यह स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार शरीर का मूल अन्नरूप पृथिवी है, पृथ्वी का मूल जल है, जल का मूल तेज है और तेज का मूल सत् है। इस प्रजा का उत्पत्ति स्थिति और लय स्थान सद्ब्रह्म ही है। इस प्रकार जाग्रत अवस्था में सत् का सगुण रूप दिखाकर अब मरण अवस्था में सत् की स्थिति को बतला रहे हैं। 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो०' हे प्यारे! मरण को प्राप्त होते हुए इस पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है तथा मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परमात्मा में लीन हो जाता है। भाष्य—तदेवं क्रमेणोपसंहृते स्वभूतं प्राप्ते मनसि—तब इस प्रकार क्रमशः उपसंहृत होकर मन के अपने मूलभूत परदेवता को प्राप्त होने पर उसमें स्थित जीव भी सुषुप्त काल के समान अपने निमित्त (मन) के उपसंहार हो जाने के कारण उपसंहृत होता हुआ यदि सत्य के अनुसंधान पूर्वक उपसंहृत होता है तो वह सत् को ही प्राप्त हो जाता है। सो कर जगे हुए पुरुष के समान फिर देहान्तर को

प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार कि लोक में भय पूर्ण देश में रहने वाला कोई प्राणी किसी प्रकार अभय देश में पहुँच कर वहाँ से नहीं लौटता उसी प्रकार यह भी नहीं लौटता, किन्तु अन्य जो अनात्मज्ञ है वह सो कर जगे हुए पुरुष के समान मरण के अनन्तर उस अपने मूल से जिस मूल से कि जीव उठ कर देह में प्रवेश करता है उठकर फिर देहपाश में प्रवेश करता है।

विशेष वक्तव्य

उपर्युक्त श्रुतियों और भाष्य ने सुषुप्ति के समान मरण की अवस्था में भी हर एक जीव को शुद्ध ब्रह्म मान लिया है तथा सुषुप्ति को और मरण को कैवल्य मुक्ति या विदेहमुक्ति का दृष्टान्त-भूत मान लिया है।

"स य एषाऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥७॥ वह यह जो अणिमा है, इसी का रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु वही तू है। श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। आरुणि ने कहा अच्छा प्यारे! (खण्ड ८)

भावार्थ—इस आठवें खण्ड में सत् की सुषुप्ति जाग्रत और मरण ये तीन अवस्थाएं दिखाई गई हैं। आगे के सभी खण्डों में इन ही तीन अवस्थाओं का दृष्टान्तपूर्वक विस्तृत वर्णन किया गया है। **'तत्त्वमसि'** यह वाक्य, इन ही तीन अवस्थाओं से सम्बन्ध रखता है। इसलिए इन ही तीन अवस्थाओं के अनुसार ही इस वाक्य का अर्थ करना ठीक है। परन्तु इस खण्ड में सत् की सुषुप्ति जाग्रत और मरण ये तीन अवस्थाएं दिखा कर 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का साधारणतः उपदेश किया गया है। अब श्वेतकेतु इन अवस्थाओं को विशेष रूप से जानना चाहता है और इनसे सम्बन्ध

रखने वाले '**तत्त्वमसि**' इस वाक्य को भी विशेष रूप से जानना चाहता है। पहले सुषुप्ति अवस्था को लेकर उसे सन्देह हुआ है—यदि सुषुप्ति में पुरुष 'सत्ता' सद्रूप हो जाता है तो यह वहां जानता क्यों नहीं कि मैं सद्रूप हो गया हूँ। ऐसी शंका से श्वेतकेतु कहता है हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। उद्दालक ने कहा हे प्यारे! अच्छी वात है (खण्ड ८)

९वां खण्ड

यथा सोम्य मधु०'—हे प्यारे! जैसे नाना वृक्षों के रस शहद रूप होकर अपने २ पहले के नामों तथा रूपों को भूल जाते हैं, ऐसे ही यह सम्पूर्ण बाघ सिंह आदि प्रजागण सुषुप्ति में सद्रूप होकर नहीं जानते कि हम सद्रूप हो गए हैं। वे इस लोक में बाघ सिंह भेड़िया सूकर कीट पतंग डांस अथवा मच्छर जो जो भी सुषुप्ति अवस्था से पहले होते हैं वे ही पुनः जाग्रत में हो जाते हैं। '**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच**'।

भावार्थ—सुषुप्ति की मध्य अवस्था जो गहरी नींद है उसमें सच्चिदानन्दात्मा, निर्गुण ब्रह्म या 'वह' सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था में कारण शरीर रूपी अहं (मैं) वृत्ति के सहित होकर प्राज्ञ नाम वाला भोक्ता रूप होकर और बुद्धि के सहित हो कर तैजस नाम वाला कर्ता रूप होकर तथा मन के सहित होकर विश्व नाम वाला कर्म करता हुआ रूप हो गया। यह अणिमा (सूक्ष्म) है, इसीका रूप यह सब कारण सूक्ष्म और स्थूल रूप प्रपंच है, किन्तु 'वह' सुषुप्ति का सच्चिदानन्दात्मा ही सत्य है, वह अपना स्वरूप है, हे श्वेतकेतो 'वह तू है' अर्थात् तू शुद्ध सच्चिदानन्द निर्गुण ब्रह्म है। अब श्वेतकेतु यह जानना चाहता है कि यदि कोई

जीव सुषुप्ति में अपनी सद्रूप से स्थिति को नहीं जानता तो उसे जागने पर जानना चाहिए कि मैं सत् से आया हूँ। इसीलिए उस ने कहा कि हे भगवन् मुझे फिर समझाइये। तब आरुणि ने कहा— हे प्यारे! अच्छा॥ खण्ड ९॥

दशवाँ खण्ड

'इमा सोम्य नद्यः'—हे प्यारे! जैसे नदियां समुद्र से उत्पन्न होकर फिर समुद्र में मिल जाती हैं। वे सब समुद्र में यह नहीं जानतीं कि मैं यह हूँ और मैं यह हूं ऐसे ही ये सब बाघ सिंह आदि प्रजाएं सत् से आने पर यह नहीं जानतीं कि हम सत् से आई हैं। वे इस लोक में बाघ सिंह आदि जो भी सुषुप्ति से पहले होते हैं वे ही फिर जाग्रत में हो जाते हैं। **'तत्त्वमसि'** इस वाक्य का अर्थ पहले वाक्य के समान ही जान लेना।

विशेष विचार

सुषुप्ति अवस्था को लेकर 'तत्त्वमसि' या तत् त्वं असि का त्वं तत् असि इस प्रकार पदों को उल्टा कर अर्थ करना ठीक है अर्थात् वह तू है इसकी जगह तू वह है ऐसा पाठ बदलाकर अर्थ करना योग्य है। क्योंकि सुषुप्ति में त्वं नामक जीव सद् ब्रह्म हो जाता है, यानी तू से वह हो जाता है।

सुषुप्ति के अनन्तर अब श्वेतकेतु जाग्रत में सत् का स्वरूप जानना चाहता है, क्योंकि आठवें खण्ड में उद्दालक ने कहा है कि जब यह पुरुष खाता और पीता है तब यह शरीर रूप कार्य उत्पन्न होता है इसीसे शरीर का मूल अन्न है, अन्न का मूल जल है, जल का मूल तेज और है तेज का मूल सत् है। इस प्रकार सब का मूल कारण सत् ही सब की उत्पत्ति स्थिति एवं लय का कारण है। ऐसा सुनकर श्वेतकेतु को ऐसी शंका हुई कि यदि

सत् का इस शरीर में निवास है तो शरीर नाश से उसका नाश क्यों नहीं हो जाता। ऐसी शंका को लेकर वह कहता है कि हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। यह सुनकर आरुणि ने कहा— प्यारे! अच्छी बात है। इसका समाधान करता हूं। शं० भा०— दृष्टं लोके०—(श्वेतकेतु बोला—)लोक में यह देखा जाता है कि जल में उठे हुए भंवर तरंग फेन एवं बुद्‌बुद् आदि पुनः जल रूप होकर नद हो जाते हैं, किन्तु जीव तो प्रतिदिन सुषुप्तावस्था में मरण और प्रलय के समय कारण भाव को प्राप्त होकर भी नष्ट नहीं होते तो हे भगवन्! इस बात को मुझे दृष्टान्त के द्वारा फिर समझाइए, तब पिता ने कहा, प्यारे अच्छा ॥ खण्ड १०॥

ग्यारहवां खण्ड

'अस्य सोम्य महतो०'—हे प्यारे! जैसे किसी के द्वारा वृक्ष को खण्ड-खण्ड कर काट देने पर भी वह जीवात्मा के सहित हरा-भरा खड़ा रहता है। किन्तु जीवात्मा से त्यागा हुआ वह सारा ही सूख जाता है। ऐसे ही जीव से त्यागा हुआ यह शरीर ही मरता है, किन्तु जीव नहीं मरता है। वह यह जो अणिमा है, इसी का रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो! **'तत्त्वमसि'** वह तू है। श्वेतकेतु ने कहा, हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। आरुणी ने कहा प्यारे! अच्छा।॥खण्ड ११॥

विशेष वक्तव्य

जागृत अवस्था को लेकर **'तत्त्वमसि०'**—तत् त्वं असि का वह तू है ऐसा अर्थ वनता है। क्योंकि जाग्रत में यह तूं रूप जीव-आत्मा 'वह' से यानी शुद्ध सच्चिदानन्द निर्गुण ब्रह्म से मैं आदि उपाधियों के सहित होकर तूं बन गया है। उपर्युक्त प्रकार से 'तत्त्वमसि' इस वाक्य ने सुषुप्ति में मन आदि से रहित सदात्मा

का निर्विकार शुद्ध ब्रह्म 'वह' रूप दिखा दिया और जाग्रत में मन आदि के सहित उसी सदात्मा का वाचारम्भण मात्र विकारी और असत्य 'तू' दिखाया है। ऐसा जानने से ही जीवात्मा शुद्ध सत् ब्रह्म की ओर जा सकता है।

पहले कहा जा चुका है कि शरीर ही मरता है, किन्तु जीव नहीं मरता है। यहां श्वेतकेतु को ऐसी शंका हुई कि ऐसा जो अति सूक्ष्म सत् है—उससे इतना बड़ा भारी शरीर कैसे बन सकता है? ऐसी शंका को लेकर वह कहता है कि हे भगवन! मुझे फिर से समझाइये। आरुणि ने कहा प्यारे! अच्छा बतलाता है।।खण्ड ११।।

बारहवां खण्ड

'न्यग्रोधफलमतः'—हे प्यारे! बट वृक्ष से एक फल तोड़ला और उसको फोड़ डाल। श्वेतकेतु के ऐसा करने पर आरुणि ने कहा, इसमें क्या देखता है? उसने कहा—अणु के समान दाने हैं। आरुणि ने कहा—इनमें से एक को तोड़ डाल। श्वेतकेतु के ऐसा करने पर आरुणि ने पूछा, इसमें क्या देखता है? श्वेतकेतु ने कहा कुछ नहीं। तब उससे आरुणि ने कहा हे प्यारे! इस वट-बीज की जिस सूक्ष्मता को तू नहीं देख सखा उसी का यह इतना बड़ा वट वृक्ष खड़ा हुआ है। हे प्यारे! मेरे इस कथन में तू श्रद्धा कर। वह यह जो लघुकाय है इसी का रूप यह सब है; वह सत्य है, वह आत्मा है। हे श्वेतकेतो! 'तत्त्वमसि' वही तू है। श्वेतकेतु ने कहा—हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। आरुणि ने कहा—हे प्यारे! अच्छा।।खण्ड १२।।

विशेष विचार

उद्दालक ने कहा—हे श्वेतकेतो! मेरे इस कथन में तू श्रद्धा कर। किन्तु श्वेतकेतु ने विचारा कि उपासना पक्ष में तो श्रद्धा

का करना ठीक ही है। क्योंकि सूर्यस्थानी उपास्यब्रह्म लोक विशेष ब्रह्मलोक में है। (इसके विषय में वैदिक मुनि श्री स्वामी हरिप्रसाद जी ने जपजी साहिब की 'पंच परवाण' पौड़ी १६ के अपने भाष्य में लिखा है कि सूर्य एक वृहत् तेजोमण्डल है और उसकी आकर्षण शक्ति असीम (बेहद) है। वह इस पृथ्वी-मण्डल से चार करोड़ पैंसठ लाख मील दूर है और वह ग्रह नहीं है, किन्तु वह मुख्यमण्डल है।) उसका प्रत्यक्ष करना मेरी दृष्टि से परे है। इसीलिये उसमें श्रद्धा के बिना और कोई उपाय भी नहीं है, किन्तु आत्मा का ज्ञान तो श्रद्धा का विषय नहीं है। क्योंकि यह अपना ही स्वरूप है और परमानन्द स्वरूप है, जब तक मैं इसको विवेक विचार द्वारा नहीं जानूंगा तो मैं सुखी नहीं हो सकूंगा। और लोग भी मेरी हंसी करेंगे कि देखो जी यह अपने आप को नहीं जानता है। बड़ा मूर्ख है। इसलिए हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये। आरुणि ने कहा हे पुत्र! बात तो ठीक ही है। तू प्रश्न करते रहना और मैं उत्तर देता ही रहूंगा। भाष्य—यदि तत् सत्—यदि वह जगत का कारण है तो वह उपलब्ध क्यों नहीं होता? हे भगवन्! इस बात को आप दृष्टान्त द्वारा मुझे फिर समझाइये ऐसा श्वेतकेतु ने कहा—तब पिता ने कहा प्यारे! अच्छा ॥१२॥

तेरहवाँ खण्ड

'लवणमेतदुदके०'—हे प्यारे! इस नमक को जल में डाल कर कल को मेरे पास आ कर इस नमक को ढूंढना। श्वेतकेतु ने ऐसा ही किया, परन्तु उसे डली रूप (पिण्डभूत) उस जल में नमक नहीं मिला। आरुणि ने कहा नमक इस में विलीन हो गया है, इसीलिए तू इसे नेत्र से नहीं देख सकता। इसे यदि तू जानना चाहता है तो इस जल के ऊपर मध्य और नीचे भाग का आचमन कर। श्वेतकेतु के आचमन करने पर आरुणि ने पूछा कैसा है। श्वेतकेतु

ने कहा नमकीन है। आरुणि ने कहा इस जल में नमक सदा विद्यमान है। तू उसे देखता नहीं। वह यह जो अणिमा है इसी का रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो 'तत्त्वमसि'—वही तू है। श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन्! मुझे फिर समझाइये! आरुणि ने कहा प्यारे अच्छा ॥१३॥

भावार्थ—आठवें खण्ड में सुषुप्ति तथा मरण अवस्था द्वारा सत् का शुद्ध रूप दिखाया और जाग्रत में उसी का विकारी सगुण रूप दिखा दिया। परन्तु सत् की सदा ही शुद्ध रूप से स्थिति का कोई साधन नहीं बताया। उस का साधन है विवेक आदि पूर्वक निर्विकल्प समाधि, वह जाग्रत में ही हो सकती है। अतः जाग्रत के ग्रहण से उसका भी ग्रहण किया है। जिस प्रकार जल में विलीन हुआ नमक दर्शन-स्पर्शन से गृहीत न होता हुआ भी वहां विद्यमान है, क्योंकि उसका जीभ से ग्रहण होता है—उसी प्रकार कारण कार्य रूप शरीर में विद्यमान होता हुआ भी सच्चिदानन्दात्मा, उपायान्तर से उपलब्ध हो सकता है। स य एषोऽणिमा' —निर्विकल्प समाधि में मन आदि से रहित जो निर्विशेष अकथनीय एवं शुद्ध सत् था वह समाधि के अन्त में मन आदि के सहित होकर मैं नाम वाला कर्ता भोक्ता जीव हो गया। इसी का रूप यह सब कारण कार्य रूप शरीर है, किन्तु वह समाधि का सत् ही सत्य है, वही अपना रूप है। हे श्वेतकेतो! वही तू है अर्थात् तू ही ज्ञेय ब्रह्म है। यहां भी वही तू है—इस के स्थान में तू वही है ऐसा परिवर्तन कर लेना चाहिए। क्योंकि निर्विकल्प समाधि में यह तू से वह बन जाता है।

श्वेतकेतु ने कहा—यदि वह सदात्मा, उपायान्तर से उपलब्ध होता है तो उसकी प्राप्ति का साधन क्या है? इस बात को हे भगवन्! आप दृष्टान्त के द्वारा मुझे फिर समझाइये। तब आरुणि

ने कहा प्यारे ! अच्छा (खण्ड १३)

चौदहवाँ खण्ड

'यथा सौम्य०'—हे प्यारे ! जैसे कोई चोर, किसी धनी पुरुष की आंखें बान्ध कर उसे गान्धार देश से ले आए और उसका धन छीन कर किसी जनशून्य स्थान में छोड़ दे। उस जगह वह पुरुष क्रम से चारों ही दिशाओं की ओर मुख करके चिल्लाए कि मेरी आंखें बांध कर मुझे यहां लाया गया है और वैसे ही छोड़ दिया गया हूं। ऐसी उस की पुकार सुन कर कोई दयालु पुरुष, उस पुरुष के बन्धन खोल कर कहे कि गान्धार इस दिशा में है, अतः तू इसी दिशा को चला जा, तो वह बुद्धिमान पुरुष, एक ग्राम से दूसरे ग्राम को पूछता हुआ गान्धार में ही पहुँच जाता है। ऐसे ही आचार्य-वान् पुरुष ही सत् को जानता है। फिर उसका मोक्ष होने में उतना ही विलम्ब है जब तक कि वह प्रारब्धकर्म की भोग से समाप्ति नहीं कर देता। उसके पश्चात् तो वह सत् सम्पन्न हो जाता है। वह यह जो अणिमा है, इसी का रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! 'तत्वमसि'—वही तू है। श्वेतकेतु ने कहा—हे भगवन् ! मुझे फिर समझाइये। आरुणि नें कहा—प्यारे ! अच्छा ।।खण्ड १४।।

भावार्थ—यथायं दृष्टान्तो वर्णितः—इत्यादि शां० भा० का अनुवाद—जिस प्रकार इस दृष्टान्त का वर्णन किया गया है अर्थात् अपने देश गान्धार से चोरों द्वारा आंख बान्ध कर लाया जाने के कारण विवेकशून्य दिङ्मूढ़ तथा भूख प्यास से युक्त होकर व्याघ्र तस्कर आदि अनेकों भय और अनर्थ-समूह से सम्पन्न वन में प्रवेशित किया हुआ पुरुष, दुःखार्त होकर चिल्लाता हुआ बन्धनों से मुक्त हो जाने के लिए उत्सुक था और वह किसी कृपालु द्वारा उन बन्धनों से छुड़ा दिया जाने पर किसी प्रकार अपने देश

गान्धार में पहुँच कर ही कृतार्थं यानी सुखी हुआ। ठीक उसी प्रकार संसार के आत्मस्वरूप सत् से तेज जल और अन्नादिमय देह रूप वन में जोकि वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि और मलमूत्र से पूर्ण तथा शीतोष्णादि अनेकों द्वन्द्व और सुख-दुःख से युक्त है, यह जीव मोहरूप वस्त्र से बन्धे हुए नेत्र वाला होकर तथा स्त्री पुत्र मित्र पशु और बन्धु आदि दृष्ट तथा अदृष्ट अनेकों विषय-तृष्णाओं से जकड़ा जाकर पुण्यपाप रूप चोरों द्वारा प्रवेशित कर दिए जाने पर मैं इसका पुत्र हूँ ये मेरे बान्धव हैं, मैं सुखी दुःखी मूढ़ पण्डित धार्मिक अथवा बन्धुमान हूँ, मैं उत्पन्न हुआ हूँ, मरता हूं, जराग्रस्त हूं, पापी हूँ, मेरा पुत्र मर गया है, धन नष्ट हो गया है, हा ! मैं मारा गया अब कैसे जीवित रहूँगा। मेरी क्या गति होगी। अब मेरा रक्षक कौन है। इसी प्रकार के अनेकों सैंकड़ों अनर्थं जालों से युक्त होकर रोता हुआ जब पुण्य की अधिकता होने से किसी प्रकार किसी परमदयालु सद् ब्रह्मात्मज्ञ बन्धनमुक्त ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष को प्राप्त होता है और उस ब्रह्मवेत्ता द्वारा दयावश सांसारिक विषयों से विरक्त हो जाता है तथा तू संसारी नहीं और न इसके पुत्रत्वादि धर्मं वाला ही है। तो कौन है जो सत् तत्त्व है 'वही तू है।' इस प्रकार के उपदेश से अविद्यामय मोहरूप वस्त्र के बन्धन से छुड़ाया जाकर गान्धार देशीय पुरुष के समान अपने सदात्मा को प्राप्त होकर सुखी और शान्त हो जाता है—इसी बात को आरुणि ने 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इस वाक्य से कहा है।

चेतावनी

आत्मजिज्ञासुओं को यहां के 'आचार्यवान् पुरुषो वेद०' इस वाक्य से न्याय शास्त्र के आचार्य को ग्रहण नहीं करना चाहिए। क्योंकि न्यायशास्त्र, प्रत्येक वस्तु की सिद्धि तर्क से करता है—इसी

से वह अनुमान बनाता है कि सुषुप्ति में और कैवल्यमुक्ति में आत्मा जड़ है, क्योंकि वह कुछ नहीं जानता इस हेतु से। यदि तुम न्यायाचार्य के पास जाओगे तो वह दोनों ही अवस्थाओं में तुम्हारे स्वरूप को जड़ बताएगा। अतः तुम उसके पास न जाकर तुम वेदान्ताचार्य के पास जाना। क्योंकि वेदान्त का अर्थ है वेद का अन्त। कर्मकाण्ड तो वेद के पैर हैं, उपासना, वेद का मध्य भाग है और ज्ञान-काण्ड वेद का सिर है। यही वेद का अन्त है। ऐसा उपनिषद् है। षद् का अर्थ है नाश करना, नि इसका अर्थ है अत्यन्त और 'उप' का अर्थ है समीप अर्थात् अज्ञान का नाश करके जो सद् ब्रह्म के अत्यन्त समीप ले जाए उस का नाम उपनिषद् है या ब्रह्म-विद्या है। यही वेदान्त है। इसका जो आचार्य हो उसके पास जाना चाहिए। क्योंकि वह 'यत्र नान्यद् विजानाति स भूमा' इस श्रुति के प्रमाण से तुम्हें कहेगा कि सुषुप्ति में समाधि में मरण और विदेह मुक्ति में आत्मा जो है वह भूमा (ब्रह्म) है। क्योंकि वह कुछ नहीं जानता इस श्रुति के प्रमाण से। (छा० ७।२४।१)

'स य एषोऽणिमा०' इत्यादि श्रुति का भावार्थ—समाधि दशा में अव्यक्त शक्ति के सद्ब्रह्म के आश्रय होने पर जो निर्गुण शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म था 'वह' समाधि के अन्त में कारण शरीररूपी अहं (मैं) वृत्ति के सहित होकर प्राज्ञ नामी 'यह' हो गया। यह सूक्ष्म है, इसी का रूप यह सब स्वप्न जाग्रत रूप प्रपंच है, किन्तु वह समाधि का सत् ही सत्य है, वह अपना स्वरूप है। हे श्वेतकेतो! वही तू है। यहां भी तत् त्वं असि—वह तू है, इसके स्थान में त्वं तत् असि—तू वह है ऐसा परिवर्तन कर लेना। क्योंकि समाधि में यह जीवात्मा तू से वह हो जाता है अर्थात् शुद्ध सद्ब्रह्म हो जाता है।

आठवें खण्ड में बतलाई हुई सत् की सुषुप्ति और जाग्रत

अवस्था का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। अब श्वेतकेतु सत् की शेष रही मरण अवस्था में स्थिति पूछना चाहता है। शां० भाष्य—आचार्यवान्—हे भगवन् ! आचार्यवान् विद्वान् जिस क्रम से सत् को प्राप्त होता है वह क्रम मुझे समझाइये ऐसा श्वेतकेतु ने कहा। तब आरुणि ने कहा—प्यारे अच्छा ॥ खण्ड १४ ॥

पन्द्रहवाँ खण्ड

'पुरुषं सौम्य०'—हे प्यारे ! ज्वर आदि से संतप्त मृत्यु के समीप हुए पुरुष को चारों ओर से घेर कर उसके बान्धवगण उस से पूछा करते हैं। क्या तू मुझे जानता है ? क्या तू मुझे जानता है ? जब तक उसकी वाणी मन में लीन नहीं हो जाती तथा मन प्राण में प्राण तेज में और तेज परमात्मा में लीन नहीं हो जाता तब तक वह पहचान लेता है। फिर जिस समय उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परमात्मा में लीन हो जाता है तब वह नहीं पहचानता। वह यह जो सूक्ष्म है, इसी का रूप यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है हे श्वेतकेतो ! वही तू है। श्वेतकेतु ने कहा हे भगवन् ! मुझे फिर समझाइये। आरुणि ने कहा प्यारे ! अच्छा ॥३॥

'स य एषो०' इत्यादि तीसरी श्रुति का भावार्थ—मरण अवस्था में मन बुद्धि और आनन्दमय रूपी अहं (मैं) वृत्ति अव्यक्त में विलीन तथा अव्यक्त ब्रह्माश्रया हो जाने पर जो निर्गुण निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म था 'वह' मर जाने के दीर्घ समय के बाद कारण शरीर रूपी मैं इस वृत्ति के सहित होकर प्राज्ञ नामक जीव हो गया—यह सूक्ष्म है, इसी का रूप यह सब सूक्ष्म और स्थूल शरीर तैजस और विश्व रूप है। परन्तु मरण में का सत् ही सत् है और वही अपना स्वरूप है। हे श्वेतकेतो ! वह तू है। यहां भी वह तू है इस के स्थान में तू वह है ऐसा अर्थ समझना चाहिए। क्योंकि

मृत्यु में यह जीवात्मा तू से वह अर्थात् शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म हो जाता है।

भाष्य—यदि मरिष्यतः—यदि मरने वाले और मुमुक्षु की सत्संपत्ति एक जैसी है तो विद्वान् सत् को प्राप्त होकर नहीं लौटता और अज्ञानी लौट आता है—इसमें जो कारण है उसे हे भगवन्! दृष्टान्त द्वारा मुझे फिर समझाइये। तब आरुणि ने कहा प्यारे! अच्छा ।।खण्ड १५।।

सोलहवाँ खण्ड

'पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतं०'—हे प्यारे! राजा के कर्मचारी लोग, किसी पुरुष के हाथ बान्ध कर लाते हैं और कहते हैं कि इसने धन की चोरी की है। इसके लिए परशु तपाओ। वह यदि चोरी करने वाला होता है तो वह झूठ को अन्दर में छिपा कर कुल्हाड़े को पकड़ता है तब उसका हाथ दग्ध हो जाता है और वह राजा के पुरुषों द्वारा पीटा जाता है। यदि वह चोरी करने वाला नहीं होता है तब वह सत्य को अपने अन्दर में आवृत कर परशु को पकड़ता है तब वह उससे नहीं जलता। और वह तत्काल ही छोड़ दिया जाता है। वह जिस प्रकार उस परीक्षा के समय नहीं जलता। उसी प्रकार विद्वान् का पुनरागमन नहीं होता। किन्तु अज्ञानी का होता है। वह सब एतद् रूप ही है। वह सत्य है वह आत्मा है और श्वेतकेतो! वही तू है। तब वह श्वेतकेतु उसे जान गया उसे जान गया ।।खण्ड १६।।

भाष्य—स यथा सत्याभिसन्धः—वह सत्यनिष्ठ पुरुष जिस प्रकार उस तप्त परशु को ग्रहण करने के कर्म में हथेली के सत्य के व्यवहित (अन्तर) रहने के कारण नहीं जलता, उसी प्रकार देह पात के समय सत्ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले और उस से भिन्न मिथ्या वस्तु में निष्ठा रखने वाले पुरुष की सत् की प्राप्ति में

समानता होने पर भी जो आत्मज्ञानी है वह व्याघ्र अथवा देव आदि के शरीरों को ग्रहण करने के लिए नहीं लौटता। किन्तु जो अज्ञानी है वह विकार रूप झूठ में निष्ठा रखने के कारण अपने कर्म और वासना के अनुसार पुनः व्याघ्र आदि अथवा देव आदि भाव को प्राप्त होता है।

भाष्य—यदात्माभिसन्धिः—जिस आत्मा के ज्ञान के कारण और न जानने के हेतु मोक्ष और बन्धन होते हैं, जो संसार का मूल है, सम्पूर्ण प्रजा जिस के आश्रित और जिस में प्रतिष्ठित है, सारा संसार जिस स्वरूप वाला है तथा जो अजन्मा, अमृत, अभय, शिव और अद्वितीय है, वही सत्य है, वही तेरा आत्मा है, इसलिए हे श्वेतकेतो ! तू वह है, इस प्रकार इस वाक्य का अर्थ कई बार कहा जा चुका है। इति।

विशेष विचार

इस उक्त भाष्य ने सत् इस नाम वाले सत् को माया आदि सभी उपाधियों से रहित शुद्ध ब्रह्म माना है। इसलिए इस में किसी भी प्रकार की लक्षणावृत्ति के लिए स्थान नहीं है।

भाष्य—कः पुनरसौ श्वेतकेतुस्त्वं शब्दार्थः (अब प्रश्न होता है कि) त्वं शब्द का वाच्य यह श्वेतकेतु कौन है। (उत्तर) जो मैं श्वेतकेतु उद्दालक का पुत्र हूं—ऐसा अपने को जानता था तथा जिसने अपने पिता के उस उपदेश का श्रवण मनन और ज्ञान प्राप्त करके अश्रुत (न सुने हुए) अमत (न मनन किए हुए) और अविज्ञात (न जाने हुए) को जानने के लिए पिता से पूछा था कि भगवन् ! वह आदेश किस प्रकार का है। वह अधिकारी श्रोता-मंता और विज्ञाता दर्पण में प्रतिबिम्बित हुए पुरुष और जलादि में प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट हुए सूर्य आदि के समान तेज जल अन्नमय देहेन्द्रिय संघात में नाम रूप की अभिव्यक्ति (प्रकट) करने के लिए

प्रविष्ट हुआ परमात्मा देव ही है। वह पिता का आदेश सुनने से पूर्व अपने को देह और इन्द्रियों से भिन्न सद्रूप सर्वात्मा नहीं जानता था। अब तू वह है इस प्रकार दृष्टान्त और हेतु पूर्वक पिता द्वारा समझाया जाने पर यह पिता के इस कथन को कि मैं सत् ही हूँ' समझ गया है। ।।खण्ड १६।।

विशेष वक्तव्य

१—जब जीवात्मा के शुभाशुभ कर्म अपना सुख दुःख रूप फल देने से उपराम हो जाते हैं तब यह अपने स्वाभाविक सुषुप्त स्थान की ओर जाता है। वहां कुछ समय सोकर अपने कर्म और वासना से प्रेरित होकर जाग्रत में फिर आ जाता है। विना इसके कर्म से और कोई भी व्यक्ति न तो जीवात्मा को सुषुप्ति में ले जाता है और न ही कोई व्यक्ति इसको जगाने वाला है। उसी प्रकार प्रारब्ध कर्म की समाप्ति हो जाने से जीवात्मा मरण को प्राप्त होता है, और वहां वहुत समय पर्यन्त शयन करता है। वहां सोया हुआ जीवात्मा तव तक सद्ब्रह्म हुआ रहता है जब तक कि उसको अपने प्रारब्ध कर्म से कोई देव आदि का अथवा वाघ, सिंह आदि का कोई स्थूल शरीर नहीं मिल जाता। ऐसा कोई स्थूल शरीर मिल जाने पर वह किसी की दृष्टि का विषय होता है। जब कि स्थूल शरीर की विद्यमानता में भी सुषुप्ति में सूक्ष्म शरीर की कोई भी व्यक्ति फोटो लेने में असमर्थ है—तब फिर मरण अवस्था में उसके स्थूल शरीर का उससे सर्वथा सम्वन्ध छूट जाने पर उस के सूक्ष्म शरीर के देखने में कोई वड़े से बड़ा देवता भी समर्थ नहीं है। इसलिए मृत्यु के समय जीवात्मा को किसी का कोई दूत लेने आता है। ऐसा पक्ष आठवें खण्ड की १५ और १६ खण्ड की श्रुतियों को और शंकरभाष्य को सर्वथा ही मान्य नहीं है। २—वेदान्त की किसी भी प्रक्रिया ने हमें आठवें खण्ड में सुषुप्ति को

जाग्रत को और मरण अवस्था को लेकर कहे हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अर्थ को नहीं समझाया है। ३—नौवें खण्ड में और १०वें खण्ड में सुषुप्ति को लेकर कहे हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ हमें किसी भी प्रक्रिया ने नहीं बताया है। ४—ग्यारह खण्ड में और १२ खण्ड में जाग्रत अवस्था को लेकर कहे हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ हमें किसी भी प्रक्रिया ने नहीं बताया है। ५—तेरह और १४ खण्ड में साधन समाधि को लेकर कहे हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ हमें किसी भी प्रक्रिया ने नहीं समझाया है। ६—पन्द्रह तथा १६ खण्ड में अज्ञानी की और ज्ञानी की मरण अवस्था को लेकर कहे हुए 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का अर्थ हमें किसी भी प्रक्रिया ने नहीं समझाया है। ७—आठवें खण्ड से लेकर सोलह खण्डों तक 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के नौ वार कथन करने का तात्पर्य किसी भी प्रक्रिया ने हमें नहीं बतलाया है। इसलिए हम सब को 'तत्त्वमसि' इस वाक्य के अर्थ को समझने के लिए छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय का पाठ और भाष्य का स्वयं अध्ययन करना चाहिए। (यदि आपने 'तत्त्वमसि' के अर्थ को विशेष रूप से जानना है तो आप मेरी बनाई हुई 'वैदिक ब्रह्म विचार' इस पुस्तक को पढ़िए)

पीछे बताया गया है कि दो जीवन्मुक्तियाँ हैं किन्तु जीवन्मुक्ति तो एक ही है—यह दो प्रकार से प्राप्त की जाती है। इसी से यह दो प्रकार की कही जाती है। एक तो केवल आत्मज्ञान द्वारा इस लोक में प्राप्त की जाती है। यह इहलौकिकी जीवन्मुक्ति है। दूसरी वह है जोकि आत्मज्ञान के सहित उपासक भी है उसकी जीवन्मुक्ति इस लोक में भी होती है और देहपात के अनन्तर ब्रह्मलोक में भी होती है। वह ब्राह्मलौकिकी जीवन्मुक्ति मानी गई है। इसी प्रकार विदेहमुक्ति तो एक ही है किन्तु वह दो

प्रकार से प्राप्त की जाती है इसी से वह दो प्रकार की कही जाती है। जैसा कि एक तो जो केवल आत्मज्ञानी है उसकी विदेहमुक्ति की सद्योमुक्ति अर्थात् शीघ्र होने वाली ऐसी संज्ञा है। दूसरी क्रम विदेहमुक्ति है उस को जो आत्म-ज्ञान के साथ साथ सगुण ब्रह्म का उपासक भी है अथवा पंचाग्नि विद्या वाला है वह प्राप्त करता है। वह उत्तरायण मार्ग द्वारा अनेकों लोकों के देवताओं से भेट करता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँचता है। जैसा कि कोठे पर जाने वाला व्यक्ति एक पौड़ी से दूसरी पौड़ी पर पैर रखता हुआ कोठे पर चला जाता है। ऐसे ही क्रममुक्ति वाला व्यक्ति भी उत्तरायण मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक में चला जाता है। महाप्रलय के आ जाने से वहां से विदेहमुक्ति का लाभ करता है। इसी का नाम क्रमविदेह-मुक्ति है।

१४. विदेहमुक्तिका विस्तार से वर्णन

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्य तरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥सूत्र१६॥ श्रुतियों में कहीं पर विशेषज्ञान का अभाव सुषुप्ति को लेकर कहा गया है और कहीं पर सम्पत्ति (कैवल्य या विदेहमुक्ति) को लेकर कहा गया है। स्मरण रहे कि सुषुप्ति में विशेष ज्ञान का अभाव सुषुप्ति की मध्य या गाढ अवस्था को लेकर कहा गया है किन्तु सुषुप्ति की आदि और अन्तिम अवस्था को लेकर नहीं कहा है।

पंचदशी के योगानन्द प्रक० में श्लोक—

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ॥
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रांतिमाप्नुयात् ॥४४॥

भावार्थ—क्योंकि जाग्रत और स्वप्न में तो बुद्धि प्रायः विक्षिप्त ही रहती है, किन्तु सोते समय यह अपनी स्वाभाविकी अवस्था के लिये अन्तर्मुख हो जाती है, उस एकाग्र बुद्धि में आत्मा

(अपना) का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय यह जीव, शय्या-जन्य सुख का अनुभव करता है, उस अनुभव करने वाला, अनुभव का साधन बुद्धि और अनुभव करने योग्य शय्याजन्य सुख ऐसी त्रिपुटी से श्रम (थकावट) को प्राप्त हो जाता है ॥४४॥

विशेष विचार

यह सुप्ति की आदि या आरम्भ अवस्था है । यह आनन्दमय कोश है । क्योंकि इस समय आत्मा की कारण अवस्था का अप-वाद या विनाश होने लगता है । इसलिए कारण शरीर की यह गौण अवस्था है । सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था में आनन्दमय कोश गौण हो जाता है और कारण शरीर की प्रधानता होती है । क्योंकि उस समय आत्मा की कारण अवस्था का आरोप या आरम्भ होने लगता है । इसलिए सुषप्ति की अन्तिम अवस्था में कारण शरीर की प्रधानता होती है । **'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति'** (मांडूक्य ५) भावार्थ—जहां सोता हुआ किसी कामना को नहीं करता और नाही किसी स्वप्न को देखता है वह सुषुप्ति अवस्था है, सुषुप्तस्थानवाला, एकीभूतः (एकरूप) प्रज्ञानघनः (विशेषज्ञानी का पिण्डरूप) आनन्दमयः (आनन्दप्रधान) आनन्दभुक् (शय्याजन्य सुख को भोगने वाला) चेतोमुखः (जाग्रत स्वप्न रूपी चेतना का द्वार) ऐसा जो प्राज्ञ है वह अपवाद की दृष्टि से विश्व और तैजस की अपेक्षा आत्मा का तीसरा पाद है ॥५॥ **'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ'** (मांडूक्य ६) यह सर्वेश्वर है यह सर्वज्ञ है यह अन्तर्यामी है यह सबकी योनि (कारण) है और भूतों की उत्पत्ति तथा लय का कारण है ॥६॥ पांचवीं श्रुति का **'चेतोमुखः'** यह वाक्य सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था के विषय में है और छठी श्रुति का **'अव्यय'** यह शब्द सुषुप्ति की आदि अवस्था में है। पांचवीं श्रुति के शेष वाक्य

सुषुप्ति की आदि अवस्था में घटते हैं और छठी श्रुति के शेष वाक्य सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था में चरितार्थ होते हैं। आनन्दमय कोश प्रधान सुषुप्ति की आदि अवस्था और कारणशरीर प्रधान सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था ये दोनों ही अवस्थाएं आत्मा की प्राज्ञ के रूप में हैं। अध्यारोप (आरम्भ) की दृष्टि से तैजस और विश्व की उपेक्षा आत्मा का पहला पाद प्राज्ञ होता है। ॥४४॥

तच्छ्रमस्यापनुत्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ॥
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥

उस त्रिपुटी रूप श्रम की निवृति के लिए जीव (प्राज्ञ) परमात्मा की ओर दौड़ता है उससे एकता को प्राप्त हो स्वयं ब्रह्मानन्द हो जाता है ॥४५॥ भावार्थ—शय्या से होने वाले सुख को भोग कर प्राज्ञ अर्थात् बुद्धि अब स्वविषयासे स्वाश्रया होना चाहती है। स्व (आत्मा को) विषय आच्छादन करने वाली) स्वाश्रया स्व (आत्मा के) आश्रया (आश्रित रहने वाली) अर्थात आनन्दमयकोशरूप आवरण को त्यागकर अपने कारण भूत अव्यक्त में लीन होकर अव्यक्त के सहित आत्मा के आश्रित हो जाती है। यह सुषुप्ति की मध्य अर्थात् गाढ निद्रा है। इसमें प्राज्ञ नाम वाला जीव, शुद्ध ब्रह्म हो जाता है। **'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञ''** (मांडूक्य ७) भावार्थ—क्योंकि गाढ निन्द्रा में आत्मा, प्राज्ञपन को त्यागकर ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है, इसीलिए वह **'नान्तः प्रज्ञं** (अन्दर बुद्धिवाला तेजस नहीं है) **नवहिः प्रज्ञ''** (वाहर मनवाला विश्व नहीं है) **'नोभयतः प्रज्ञं'** (विश्व आदि के बीच होनेवाली बुद्धि वाला नहीं है) **न प्रज्ञानघनं** (विशेषज्ञानों का घनीभूत प्राज्ञ नहीं है) **न प्रज्ञं** (विशेष ज्ञान वाला चेतन नहीं है) **नाप्रज्ञं** (क्योंकि उसकी दृक् शक्ति का लोप नहीं होता इसीलिए वह जड़ नहीं है) **अदृष्टं** (वह नेत्रों का विषय नहीं है)

अव्यवहार्यं (किसी व्यवहार का विषय नहीं है) अग्राह्यं (हाथों से ग्रहण करने योग्य नहीं है) अलक्षणं (किसी आकार विशेष वाला नहीं है) अचिन्त्यं (मन का विषय नहीं है) अव्यपदेश्यं (वाणी का विषय नहीं है) एकात्मप्रत्ययसारं अपने में अपने आप ही प्रमाण है) प्रपंचोपशमं (संसार का अन्त है) शान्तं (निश्चल है) शिवं (कल्याण रूप है) अद्वैतं (स्वगत आदि तीनों भेदों से रहित है) चतुर्थं मन्यन्ते (ब्रह्मवेत्ता लोग उसको विश्व तैजस और प्राज्ञ की अपेक्षा चौथा (तुरीय) मानते हैं) स (वह) आत्मा (अपना स्वरूप है) स (वह) विज्ञेयः (शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार और अनुभव से भी जानने के योग्य है) अर्थात् आत्मा के स्वरूप को जानकर प्रकृति को सदा के लिए स्वाश्रया (आत्माश्रया) कर देना चाहिए ।।७।। इस श्रुति के 'मन्यन्ते' इस पद के आधार पर ही 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति०' (छा० ६।८।१) इस पर ऐसा भाष्य है– न ह्यन्यत्र सुषुप्तात—ब्रह्म-वेत्तालोग, सुषुप्तावस्था को छोड़ कर अन्य किसी अवस्था में जीव की स्वरूप प्राप्ति को स्वीकार नहीं करते। इसी से श्लोक में भी कहा है कि गाढ निद्रा में जीवात्मा ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त कर स्वयं ब्रह्मानन्द (भूमानन्द) हो जाता है ।।४५।।

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ।।५६।।

'अत्र पिता अपिता भवति'० (बृ०४।३।२२) इत्यादि श्रुति में जीवभाव का निषेध करने से गाढ़ निद्रा में ब्रह्म ही है किन्तु जीव नहीं है क्योंकि इस अवस्था में इसमें संसारी पन नहीं देखा जाता ।।५६।।

अयाभावेतु निर्द्वैतः पूर्णएवाभिधीयते ।
समाधिसुप्तिमूर्छासु पूर्णः सृष्टैः पुरा यथा ॥१६॥

जिस प्रकार आत्मा, समाधि में सुप्ति में और मूर्छा अवस्था में त्रिपुटी के अभाव से द्वैत रहित पूर्ण ब्रह्म है —उसी प्रकार सृष्टि के पहले अर्थात् महाप्रलय की मध्य अवस्था में भी आत्मा पूर्ण ब्रह्म था ॥१६॥

कोई भी विद्वान् हो वह जब तक सुषुप्ति की आदि अवस्था आत्मा का आनन्दमय कोश है और सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था आत्मा का कारण शरीर है तथा सुषुप्ति की मध्य अवस्था आत्मा की शुद्ध ब्रह्मरूप अवस्था है—इस प्रकार सुषुप्ति का विभाजन नहीं कर लेगा वह तव तक सुषुप्ति को आत्मा का आनन्दमय कोश वतानेवाली तथा सुषुप्ति में आत्मा का शुद्ध रूप कथन करने वाली श्रुतियों की संगति कदापि नहीं लगा सकेगा। एवं वह पूर्वोक्त ४४।४५। इन श्लोकों का भी सुसंगत अर्थ नहीं कर सकेगा। इसलिए सुषुप्ति की आदि और अन्तिम अवस्था ये प्राज्ञ की अवस्थाएं हैं और सुषुप्ति की मध्य अवस्था आत्मा की शुद्ध तुरीय ब्रह्म अवस्था है।

'सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति०' (बृ० ४।३।३२) इस श्रुति पर आत्मपुराण के अध्याय ६ के श्लोक—

स्वस्वजातिविजात्युत्थभेदत्रय विवर्जनात् ।
एको निरन्तरो द्रष्टा सुप्तौ भवति भूपते ॥
ब्रह्मशब्दाभिधेयोय स्वयं ज्योतिः परः पुमान ॥७६३॥
याज्ञवल्क्येन या सुप्तिरुक्तैषा परमागतिः ।
नातः परं हि गन्तव्यमस्ति लोकत्रयेषुहि ॥७६५॥

यज्ञादिभि र्महापुण्यैः ब्रह्मचर्यादि साधनैः।
श्रवादिभिस्तथोपायैः गन्तव्यैषात्मरूपिणी ॥७६६॥
सूत्रानन्दो भवेन्मात्रा भूतो यः परमः स्मृतः।
स तु सौषुप्त आनन्दः परमात्मेति कीर्तितः ॥८१४॥
अवाङ्_ मनसगम्योऽयं तारतम्य विवर्जितः।
परमात्सूत्रस्यानन्दात्परसः परमात्मनः ॥
आनन्दोऽव्याकृतस्यास्य साक्षिणी व्याकृतस्य च ॥८१५॥
ब्रह्मलोको मया राजन् सुप्तौ यस्ते समीरितः।
स एव परमानन्दः सूत्रजादधिको हि सः ॥८१८॥

अर्थ—याज्ञवल्क्य ने कहा—हे जनक ! सुषुप्ति में स्वगत सजातीय और विजातीय रूप तीन भेदों से रहित द्रष्टा (आत्मा) एक अद्वैत होता है, यही स्वयं ज्योति पुरुष, ब्रह्म शब्द का अर्थ रूप सच्चिदानन्द है ॥७६३॥ याज्ञवल्क्य ने जो सुषुप्ति कही है, यही परमगति है, इससे परे निश्चय ही तीनों लोकों में भी गन्तव्य नहीं है ॥७६५॥ यज्ञ आदि महापुण्यों से और ब्रह्मचर्य आदि साधनों से तथा श्रवण मनन आदि उपायों से यह आत्म-रूपिणी प्राप्त करने योग्य है ॥७६६॥ जो परम आनन्द कहा है जिसका हिरण्यगर्भ का आनन्द भी मात्रा या अंशरूप है, वह सुषुप्ति में होनेवाला आनन्द, परमानन्द कहा गया है ॥८१४॥ वह वाणी मन से अगम्य और न्यून अधिक भाव से रहित हिरण्यगर्भ के परमानन्द से भी अधिक व्यक्त के साक्षी अव्यक्त परमात्मा का परमानन्द है ॥८१५॥ याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा हे राजन् ! मैंने तुम्हारे को सुषुप्ति में जो ब्रह्मलोक कहा है वह परमानन्द है जोकि हिरण्यगर्भपद से भी अधिक है अर्थात् प्रत्येक जीव को सुषुप्ति में

जो परम सुख होता है वह जाग्रत और स्वप्न में ईश्वर को भी नहीं होता है ।।७१८।।

विशेष विचार

१. यदि तुम लोग ऐसा कहोगे कि गहरी नींद से जागा हुआ मनुष्य ऐसा स्मरण करता है कि मैं सुख से सोया मैंने कुछ भी नहीं जाना। इसलिए सुषुप्ति का आत्मा अज्ञानी है। इस प्रश्न का उत्तर मैं लिखता हूँ कि यह सिद्धान्त योगदर्शन का और युक्तिप्रधान जो न्यायशास्त्र तथा बैशेषिक शास्त्र है उसका है, किन्तु ऐसा सिद्धान्त, अद्वैतवाद का नहीं है। क्योंकि योगदर्शन ने प्रमाण आदि पांच प्रकार की वृत्तियों में निद्रा को भी चौथी वृत्ति स्वीकार किया है। न्याय और वैशेषिक इन दोनों शास्त्रों ने सुषुप्ति में और कैवल्यमुक्ति में आत्मा की जड़ रूप से स्थिति मानी है। किन्तु अद्वैतवाद ने 'सलिल एको द्रष्टा' (बृ० ४।३।३२) और 'यत्र नान्यद्विजानाति०' (छा० ७।२४।१) ऐसी पूर्वोक्त वैदिक श्रुतियों के प्रमाण से सुषुप्ति में और विदेहमुक्ति में आत्मा के परमानन्दस्वरूप को स्वीकार किया है। (क) तुम्हारा माना हुआ सुषुप्ति में आत्मा के विषय में अज्ञान, यह तर्क संगत नहीं है। क्योंकि आपने आत्मा को अज्ञान का आश्रय तो मान लिया है, किन्तु अज्ञान किस विषय में है यह वताइये। क्योंकि वहां तो कोई भी विषय नहीं है। कहना पड़ेगा कि आत्मा ही अज्ञान का आश्रय है और आत्मा ही अज्ञान का विषय है। ऐसा मान लेने से आत्म-आश्रय दोष आ गया है। क्योंकि अज्ञान का आश्रय भी आत्मा है और अज्ञान का विषय भी आत्मा ही है। इस प्रकार का आत्मा-श्रय दोष आ जाने से तुम्हारा सबका माना हुआ सुषुप्ति में आत्मा को अज्ञानी यह सिद्धान्त तर्क से खण्डित हो जाता है। (ख) यदि अपने को अद्वैतवादी कहलानेवाले तुम लोग भी सुषुप्ति में आत्मा

को अज्ञानविशिष्ट मान लोगे तब तुम जीवन पर्यन्त दिन भर ब्रह्मज्ञानी बने रहोगे और रात में अज्ञानी बने रहोगे। कैवल्य में भी विशेषज्ञान का अभाव होने से तुम वहां भी अज्ञानी ही रहोगे। ऐसा होने से तुम्हारी ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्ति निष्फल होने पर व्यर्थ सिद्ध हो जाती है।

२. यदि तुम कहोगे कि **'तम आसीत् तमसा गूढहमग्रे'** और **तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति०'** इस प्रकार के वैदिक प्रमाण भी महाप्रलय में भी अन्धकार की स्थिति स्वीकार करते हैं और सुषुप्ति को भी अन्धकारमयी बता रहे हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है जिस प्रकार **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी** (गीता २।६९) इस गीता के श्लोक में आत्मा को मन वाणी का गोचर न होने से रात्रि रूप माना है, किन्तु आत्मा का स्वरूप, अन्धकार रूप तो नहीं है। क्योंकि**'चेतनश्चेतनानां'** इत्यादि श्रुतियों से वह तो सूर्य आदि प्रकाशशीलों का भी प्रकाशक है। आत्मा को दुर्विज्ञेयता की दृष्टि से निशारूप कहा गया है। किन्तु इसका अभिप्राय आत्मा को रात्रिरूप कथन करने का नहीं है। उसी प्रकार श्रुतियों का तात्पर्य भी आत्मा को अन्धकाररूप कथन करने का नहीं है किंतु'तमः'ऐसा कथन आत्माकी अतीन्द्रियता के अभिप्राय से है। ३—यदि कहते हो कि वेदान्त की सभी प्रक्रियाओं हमने आत्मा को सुषुप्ति में अज्ञान विशिष्ट ही पढ़ा सुना है। इसका उत्तर मैं ऐसा देता हूँ कि केवल प्रक्रियाओं को रटने वाले आप लोग, पूर्वोक्त श्रुतियों को और भाष्य को अपने अनुभव के पीछे चला रहे हो किन्तु तुम लोग अपने अनुभव को श्रुतियों के और भाष्य के अनुसारी नहीं बना रहे हो।

४—यदि तुम कहोगे जबकि गहरी नींद में आत्मा का शुद्ध रूप हो जाता है तब फिर उसको जागने पर यह स्मरण क्यों नहीं

होता कि मैं शुद्ध सदात्मा हो गया था। इसका उत्तर यह है कि निर्गुण आत्मा, निर्गुण आत्मा के ज्ञान का विषय नहीं होता है और वह दूसरे निर्गुण आत्मा के ज्ञान का विषय भी नहीं होता है। जैसा कि गूढ़ निद्रा का निर्गुण आत्मा अपनी दृष्टि का विषय नहीं होता है। यदि इसको अपनी दृष्टि का विषय मान लेंगे तो वही आत्माश्रय दोष आ जाता है। क्योंकि आत्मा अपने आप जानने वाला और अपने को ही जानता है। अर्थात् अपने आप ज्ञाता और अपने आप ही ज्ञेय होने से आत्माश्रय दोष आ जाता है। जोकि अपने कार्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। इसलिये वह अपने को नहीं जानता है। जबकि गहरी नींद वाला दूसरा आत्मा भी आत्माश्रय दोष का भागी होने से वह अपने आपको नहीं जानता है तो वह पहले आत्मा को कैसे जान सकता है अर्थात् नहीं जान सकता। इसलिए बुद्धि का साथी जो जाग्रत का सगुण आत्मा है वह अपने को तो जानता ही है जिस दशा में वह स्थित है और वह सुषुप्ति के निर्गुण आत्मा को भी जानता है। किन्तु गूढ़ निद्रा का जो निर्गुण आत्मा है वह अज्ञानी और ज्ञानी संज्ञा वाला नहीं हो सकता।

५. यदि कहो कि गूढ़ी नींद का ही नाम संप्रसाद स्थान नाम है यह तो किसी पुस्तक में पढ़ा और सुना भी नहीं है तब मैं कहूंगा कि तुमने छान्दोग्य० और वृहदारण्यक० को नहीं पढ़ा है। यदि पढ़ा भी है तो आपने सावधानी से नहीं पढ़ा है। यदि तुम लोग ऐसी सभी प्रक्रियाओं को त्याग कर जिनमें संप्रसाद स्थान नाम नहीं है। केवल उपनिषदों का अध्ययन करो तब तुम्हें सम्प्रसादस्थान के महत्व का पता लग सकता है।

६. यदि तुम कहोगे कि आपने तो विदेहमुक्ति को गाढ़ी नींद की उपमा देकर उसके महत्व को ही खो दिया है। तुम्हारे ऐसे

लेख से तो लोग नास्तिक हो जायेंगे। कोई भी व्यक्ति, विदेहमुक्ति के लिये पुरुषार्थ नहीं करेगा इसके उत्तर में मैं तुम्हारी भलाई के लिये लिख रहा हूँ। जबकि तुम्हारे पास विदेहमुक्ति की उपमा का कोई दृष्टान्त ही नहीं है तब फिर तुम्हारे को विदेहमुक्ति का प्राप्ति तो होगी नहीं किन्तु तुम उसके स्वरूप को बिना जान शरणार्थी बनकर भटक भटक कर मर जाओगे। इसलिये तुम पहले विदेहमुक्ति के स्वरूप को जानने के लिये उसके उपमा रूप संप्रसादस्थान को भली भांति समझ लो।

७. यदि सदा के लिये सो जाना ही आत्मा की विदेहमुक्ति का स्वरूप है तब फिर ऐसी मुक्ति को हमारा दूर से ही प्रणाम है। हम नहीं चाहते ऐसी मुक्ति को। अब मैं लिखता हूं कि तुम्हारा यह कथन अर्धपठित मूर्ख ब्रह्मचारी के समान है। जो व्यक्ति न तो पूरा-पूरा पठित ही हो और न वह सर्वथा मूर्ख ही हो उसको मैं अर्धपठित मूर्ख मान रहा हूँ। ऐसे ब्रह्मचारी ने कहा कि मेरी वृद्धावस्था हो गई है। अब मैं मरण के निकट हूं। मृत्यु हो जाने पर दूसरे जन्म को ग्रहण करके मैं वेदों का प्रचार करूंगा। इसलिये मैंने काशी का वास त्याग दिया है। क्योंकि यदि काशी में मरूंगा तो मेरा जन्म तो होगा ही नहीं फिर मैं वेदों का प्रचार कैसे कर सकूंगा। इसी से मैं काशी में मरना नहीं चाहता इसीसे काशी को त्याग रहा हूँ। मैंने कहा कि काशी में 'कलवत' इस नाम का जो कुआं है—उसमें गिरते साथ ही मनुष्य के अंगप्रत्यंग सभी आरे से कट कर छिन्नभिन्न हो जाते थे। मुक्ति की कामना वाले श्रद्धालु लोग उसमें गिरा करते थे और बहुत से व्यक्ति धन के लोभ से उस कूए में धूर्तों के द्वारा गिराये भी जाते थे जिसको अंग्रेज राज्य ने लोहे का जंगला लगाकर कूए में गिर कर मरने का रास्ता बन्द कर दिया है। उसमें गिरने से भी

मुक्ति मानी गई है। प्रयाग के त्रिवेणी में डूबकर मर जाने से भी मुक्ति मान ली गई है। 'कुरुक्षेत्रे त्रिधा मुक्तिरन्तरिक्षे जले स्थले'. कुरुक्षेत्र-भूमि में खाट पर मरने से, जल में डूबकर मरने से और भूमि पर मर जाने से तीनों ही प्रकार से मुक्ति की प्राप्ति होती है। ऐसा कुरुक्षेत्र के महातम में लिखा है। ऐसा ही महातम सभी तीर्थों में मरने से है। रुद्राक्ष, विभूति, तुलसी को माला, तिलक, कण्ठी और तपी हुई मुद्रा इत्यादि अनेकों चिह्नों के धारण करने से भी मुक्ति का होना पुराणों में बताया है। जितनी मुक्ति भारत में मंदे भाव से मिलती है, इतनी सस्ती मुक्ति तो इंग्लैण्ड आदि देशों में भी नहीं है। इसलिए अन्धश्रद्धालु ब्रह्मचारी जी महाराज! यदि तुम इस डाकिनी रूपी मुक्ति से आत्मरक्षा करना चाहते हो तो आप अपने गले का कण्ठा और विभूति को त्याग कर तथा सभी तीर्थों में वास को त्यागकर किसी भीलों की बस्ती में अपना आसन जमाओ। फिर तुम मुक्ति रूपी दानवी के पंजे में नहीं पड़ोगे। इतना सुनकर ब्रह्मवादी झुंझलाकर बोला तो क्या फिर पुराणों में वर्णित मुक्ति के उक्त सभी साधन व्यर्थ हैं। मैंने कहा व्यर्थ नहीं हैं। क्योंकि इनमें से किसी एक धार्मिक चिन्ह के धारण करने से मनुष्य कुमार्ग से बच जाता है। तथा तीर्थों में वास करने से मनुष्य की भक्ति और ज्ञान के साधनों को प्राप्त करने के लिए सुलभता होती है। परन्तु यदि कोई मनुष्य जनेऊ आदि धार्मिक चिन्ह (निशान) धारण करने पर भी कोई कुकर्म करता है अथवा किसी प्रकार से जनता को ठगता है तो जनता उसके प्रातःकाल मुंह देखने की अपेक्षा अपने काम पर लगे हुए भंगी आदि के मुख को देखना अच्छा समझती है। किन्तु पूर्वोक्त ये सभी साधन शास्त्रविधि के अनुसार करने पर भी 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनार्थ' और

'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः'। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि वैदिक मंत्रों के प्रमाणों से सिद्ध है कि बिना आत्मज्ञान के कैवल्यमुक्ति नहीं होती है।

८. यदि तुम कहोगे कि 'काश्यां मरणात् मुक्तिः'—काशी में मरणमात्र से मुक्ति होती है। तब मैं भी ऐसे अवश्य कहूंगा कि मथुरा में अयोध्या में इत्यादि सभी पुरियों में मरणमात्र से उस देवता के लोक की प्राप्तिरूपी मुक्ति पुराणों में पाई जाती है। किन्तु जिन जातियों ने,यदि ऐसा लिखूंगा तो ऐसा लिखना असत्य लिखना होगा। क्योंकि सभी जातियों में सज्जन और दुर्जन दोनों प्रकार के लोग होते हैं। इसलिए जाति शब्द को छोड़ कर ऐसा लिखता हूं कि जिन लोगों ने काशी में शिव जी आदि की प्रतिमाओं को तोड़कर अयोध्या में रामजी आदि की प्रतिमाओं को भग्न कर, मथुरा में कृष्ण जी आदिकों की प्रतिमाओं को नष्ट भ्रष्ट कर, कैथल (करनाल) में हनुमान जी की प्रतिमा को भंगकर, प्रभास क्षेत्र (सौराष्ट) में शिव आदिकों की प्रतिमाओं को छिन्न भिन्न करके उनके स्थान में अपने मन्दिरों को बनाया है जिनके साथ तुमारी अभी तक मुकद्दमेंबाजी चालू है। और जिन लोगों ने जब्बलपुर के भेड़ाघाट में चौषट योगिनियों की प्रतिमाओं के नाक कान तथा स्तनों को काट कर उनको कुरूप बना डाला है, और नर्मदा के उद्गम स्थान अमरकण्टक में शिव आदिकों की प्रतिमाओं को भग्न किया हुआ है, एवं जिन लोगों ने उदयपुर की दक्षिण दिशा में पच्चीस मील की दूरी पर 'केसरिया बाबा' के गांव में शिव आदिकों की प्रतिमाओं को नष्ट भ्रष्ट कर अपने पूज्यों का मन्दिर बनाया है। (ये सुनी सुनाई बातें नहीं हैं किन्तु इस सभी दृश्य को मैंने अपने नेत्रों से देखा है।) ये लोग भी काशी आदि पुरियों में रहते ही हैं। इनकी मृत्यु हो जाने पर इनको भी सभी पुरियों

के देवता लोग, इनकी इच्छा न होने पर भी बलात अपने अपने लोक में ले जाकर किसीको सालोक्य मुक्ति किसी को सारूप्य मुक्ति किसी को सामीप्यमुक्ति और किसी को सायुज्यमुक्ति प्रदान करेंगे, तथा मर जाने पर तुम लोग भी वहां पहुंच जाओगे तब तो इनके साथ यहां जैसा वहां भी महायुद्ध तथा महाक्लेश होना अवश्यंभावि होगा—तब फिर उन देवताओं के लोकों में जाने से तुम को कुछ भी लाभ नहीं है।

९. यदि तुम कहोगे कि हम लोग 'मरणात् मुक्तिः' मरने से मुक्ति होती है इस वाक्य पर विश्वास नहीं रखते। हम तो उन-उन अपने अपने आराध्यदेव भगवान की अनन्य भक्ति करके उन-उन भगवान के लोकों में जायेंगे। वहां से इस लोक में पुनर्जन्म को ग्रहण नहीं करेंगे। तब फिर मैं ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों की और गर्गसंहिता आदि संहिताओं की उपेक्षा करके भगवान श्री कृष्णजी के श्री मुख से निकले हुए उपनिषद् वेदरूप गीता के प्रबल प्रमाण रूप 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'। (गीता ८।१६) इस श्लोक को कहूँगा। इसका अर्थ है कि हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक आदि से लेकर जितने भी लोक हैं वे सभी पुनरावर्तन वाले हैं। किन्तु हे कौन्तेय ! मेरे को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता ॥१६॥ यह श्लोक भगवान ने आत्मज्ञान की प्रशंसा के लिए कहा है और अपने को ज्ञानरूप से ब्रह्म या व्यापक बतलाया है। क्योंकि 'वृष्णीनां वासुदेवो अस्मि (गीता १०।३७) वृष्णिवंश में मैं वसुदेव का पुत्र हूं ऐसा कहते हुए अपने शरीर को आत्मा का विभूति रूप माना है। इसी से कहा है कि 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशय-स्थितः' (गीता १०।२०) 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' (गीता ७।७) 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो (गीता १५।१५)। क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत (गीता १३।२) इत्यादि

श्लोकों द्वारा कृष्णजी ने अपने को ज्ञानरूप से सर्वत्र व्यापक बताया है। इसलिये उन-उन देवताओं में श्रद्धाभक्ति कराने के लिये कहे हुये पुराणों के रोचक वचनों को मैं यथार्थ वाक्य नहीं मान सकता। मैं तो कृष्णजी के गीता में कहे हुए वाक्यों को ही यथार्थ वाक्य मानूँगा। यदि तुम भी भगवान के वाक्यों के अनुसारी बन कर श्री कृष्णजी की कही हुई कर्मपद्धति के अनुसार अपना जीवन बनाओगे तब तो मुझे अत्यन्त ही प्रसन्नता होगी। क्योंकि वेदों का माना हुआ जबकि ब्रह्मलोक भी अनित्य ही है तब फिर पौराणिक, शिवलोक, बैकुण्ठलोक, गोलोक और साकेत आदि लोक तो सर्वथा ही नित्य नहीं हो सकते। इसलिये वहां की मुक्ति भी नित्य मुक्ति नहीं है।

१०. यदि तुम कहोगे जबकि सदा के लिए सो जाना ही विदेहमुक्ति का स्वरूप है तब तो हम लोग ऐसी मुक्ति को कभी भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। क्योंकि हमारी माता ने अत्यन्त रुष्ट होकर किसी से कहा था कि तू (रब्ब करके मुत्ता ई रह जामें) इस पंजाबी कहावत के अनुसार तो मुक्ति एक अत्यन्त ही भयंकरी डाकिनी प्रतीत होती है। इसी से आज से हम कभी भी 'अहंब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूं, शिवोहं और सोहं इत्यादि शब्दों को भूलकर भी नहीं जपेंगे और जहां ऐसे शब्दों का कीर्तन होगा उस कीर्तन में भी सम्मिलित नहीं होवेंगे। क्योंकि हमें अपनी मुक्ति हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। किन्तु तुम्हारे को निर्भय करने वाला इसका उत्तर मैं ऐसा दे रहा हूं। यदि तुम २४ घंटे ऐसा लिखता हूं तब तो यह लेख मिथ्या लेख होगा क्योंकि छ घंटे तो सोने के लिए अवश्य निकालने पड़ेंगे। इसलिए ऐसा लिखता हूँ कि यदि तुम १८ घंटे भी ऐसे शब्दों की झड़ी प्रतिदिन लगाते रहोगे तो भी तुम्हें तुम्हारी मानी हुई मुक्तिरूपी डाकिनी

का तुम्हें दर्शन नहीं मिलेगा क्योंकि मैं तुम्हें गुरुजनों के ऐसे वचनों को प्रमाणरूप में देता हूँ जोकि तुम्हें मुक्तिरूप खतरे से निर्भय कर देंगे। वे प्रमाण ऐसे हैं—

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।

विना 'अपरोक्षानुभवं ब्रह्म शब्दैः न मुच्यते' (विवेक चूड़ामणि श्लो० ६४) कोई भी रोग हो वह औषधि का नाम मात्र लेने से नष्ट नहीं होता किन्तु वह औषधि के सेवन से ही नष्ट होता है—ऐसे ही आत्मा को प्रत्यक्ष रूप से जाने बिना शिवोहं या सोहं इत्यादि शब्दों के रटने से मुक्ति नहीं होती ॥ ६४ ॥

वागवैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यान कौशलम् ॥
वैदुष्यं विदुषा तद्वत् भुक्तये न तु मुक्तये ॥६०॥

भावार्थ—उच्च स्वर से शब्दों की झड़ी लगा देना तथा शास्त्रों के व्याख्यान में अत्यन्त ही कुशल होना अर्थात् एक श्लोक को कई दिन तक व्याख्यान करते रहना, ऐसे ही विद्वानों के बीच अपनी विद्वता दिखाना यानी शास्त्रार्थ में सबको परास्त कर देना, यह सब कुछ भोग के लिये ही है, किन्तु यह सब मुक्ति के लिए नहीं है ॥ ६० ॥

अकृत्वा शत्रुसंहारं अगत्वाखिलभूश्रियम् ॥
राजाहं इति शब्देन राजा नो भवितु मर्हति ॥६६॥

जिस मनुष्य ने शत्रु का विनाश नहीं किया है और सम्पूर्ण राज्य लक्ष्मी को प्राप्त नहीं किया है वह मनुष्य अपने को मैं राजा हूँ ऐसा कहने से वह राजा नहीं हो सकता ॥६६॥

अकृत्वा दृश्यविलयं अज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ॥
वाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिः उक्तिमात्र फलैः नृणाम् ॥६५॥

(ऐसे ही) जिन्होंने दृश्य का विलय नहीं किया है अर्थात जिनके मन में शत्रु मित्र मान अपमान स्तुति निन्दा हर्ष और

शोक आदि दोष, पत्थर में रेखा के समान स्थायी होकर रहते हैं और आत्मा के वास्तविक स्वरूप को अनुभव नहीं किया है ऐसे मनुष्यों की 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूं ऐसे वाचकमात्र शब्दों के कथन से मुक्ति कैसे हो सकती है, उन शब्दों का तो केवल कथन मात्र ही फल है किन्तु मुक्तिरूपी फल नहीं है ।।६५।।

इस प्रकार के गुरुजनों के वचनों को स्मरण करके सोहं शिवोहं का कीर्तन करते हुए भी तुम्हें मुक्तिरूपी महामारी का कुछ भी खटका नहीं होना चाहिए।

संन्यासी के लिए, विधवास्त्री के लिए और ब्रह्मचारी के लिए परेच्छा से भी चन्दन लगवाने का और पुष्पों की माला पहनने का धर्मशास्त्रों ने निषेध किया है। क्योंकि यह सिंगार है। इसलिए त्याग वेषधारी जो भी साधु सन्त लोग, मस्तक पर चन्दन आदि लगबाने वाले हैं, गले में पुष्पों की माला धारण करने वाले तथा धूप आरती कराने वाले हैं और मर जाने पर समाधि बनाए जाने को तथा उसको भोग लगने की कामना वाले हैं उनकी भी मुक्ति नहीं होती। क्योंकि योगदर्शन में संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात के नाम से दो प्रकार की समाधि मानी गई है और संप्रज्ञात समाधि अवान्तर भेद से कई प्रकार की मानी गई है। किन्तु मृत मनुष्यों को जो समाधियां हैं ये तो उपाधि के रूप में समाधियां हैं। क्योंकि इनके पूजक लोग, अपनी ओर से अनेकों असंभव कल्पनाएं करके जनता को देवताओं की उपासनाओं से विमुख कर उनको उपासना कराते हैं। इसलिए इनको मैं उपाधियां मानता हूँ। इनको मैं पीठें भी नहीं मान सकता क्योंकि पीठ नाम पीढ़ा मूढ़ा या बैठने की जो चौकी होती है उसका नाम पीठ है। विद्वानों के पीठ उनके विद्याग्रन्थ होते हैं। जैसाकि पतंजलिमुनि का पीठ योग दर्शन है, कपिलमुनि का पीठ सांख्यशास्त्र है, जैमिनीमुनि

का पीठ पूर्वमीमांसा शास्त्र है, वेदव्यास जी का पीठ ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन है, गौतममुनिका पीठ न्यायशास्त्र है, कणादमुनि का पीठ वैशेषिक शास्त्र है, पाणिनि मुनि का पीठ अष्टाध्यायी है, श्री कृष्णजी का पीठ गीता है, श्री शंकराचार्य जी का पीठ शांकर भाष्य है, गुरुनानक देव जी का पीठ जपजी साहिब है, श्री गुरु अर्जुन देव जी का पीठ सुखमनि साहिब जी है और तुलसीदास जी का पीठ रामायण है । इत्यादि सभी जो भी विद्याग्रन्थ विश्वभर की जनता के हित के लिए बनाए गए हैं जैसाकि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के बनाए हुए सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थ हैं वे सभी उन महापुरुषों के पीठ अर्थात वे महापुरुष उन उन ग्रन्थों के रूप में अमर हैं और व्यापक हैं। किन्तु मृतमनुष्यों की उपाधियों के रूप में पीठों की पूजा करने वाले लोग तो विद्या की ओर पीठ करके बैठते हैं इसलिए इनका पीठ नाम तो सार्थक नहीं है किन्तु ये मूर्खों द्वारा कल्पित की गई मढ़ियां हैं। क्योंकि इनके पुजारी लोग कहते हैं कि गुरुमहाराज जी विदेहमुक्त हो गए हैं और साथ में ही यह भी कह देते हैं कि जो मनुष्य श्रद्धा भक्ति से इनकी पूजा करता है ? आरती करता तथा इनको भोग लगाता है उसका सब कुछ स्वीकार करके मन वांछित फल देते हैं। महामूर्खता का अवतार स्वरूप कोई कोई पुजारी तो निस्संकोच हो ऐसा कह देता है कि विदेहमुक्त हमारे गुरु जी तो दतौन करते हैं और स्नान भी प्रति दिन करते हैं। सुना है कि बद्रीनाथ जी में छै महीने शीत काल में उनकी पूजा नारद मुनि करता है। जब बद्रीनाथ जी के पट खोले जाते हैं तब वहां फटी हुई दतौन मिलती हैं। जगन्नाथपुरी वाले लोग कहते हैं कि भगवान को कई दिनों से ज्वर (ताप) आ रहा है और इनके लिए औषधि सेवन की व्यवस्था की गई है। इस लिए इतने दिनों

तक पट बन्द रहेंगे। इनके दर्शन नहीं मिल सकेंगे। वृन्दावन में मैंने पूछा कि भगवान की सवारी कहां पर जा रही है तो उनमें से एक ने उत्तर दिया कि भगवान ने रात को वेश्यागमन किया है। क्योंकि लक्ष्मीजी ने कहा है कि यमुना में स्नानकर शुद्ध होकर मेरे भवन में आना। इसलिए भगवान को यमुना जी में स्नान कराने के लिए ले जा रहे हैं। ऐसी इन पूजकों की असंभव कल्पना को देखकर मैंने मन में विचारा कि अपने इष्ट देव को मलिन रोगी और अशुद्ध मानने वाली इन लोगों की यह सद् भावना नहीं है, किन्तु यह सर्वथा ही अन्धश्रद्धामयी दुर्भावना ही है।

ऐसे देवताओं के मन्दिरों के पुजारियों की असम्भव कल्पनाओं के आधार पर देखा देखी इन समाधियों के पुजारी भी अनेकों असम्भव कल्पनाएं घड़ते रहते हैं। इनके सबके अपनी-अपनी समाधियां बनवाने वाले, साधु-सन्त लोग देहात्मवादी हैं अर्थात देह को आत्मा मानने वाले हैं। इसलिये इन लोगों की मुक्ति कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि गुरुजन कहते हैं।

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति ॥
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तु सइच्छति ॥ विवेक० ८६॥

भावार्थ—जो मनुष्य, शरीर की प्रतिष्ठा चाहता है अर्थात् शरीर के पालन पोषण में संलग्न है और वह स्थूल शरीर आदि तीन शरीरों से रहित जो आत्मा है उसका भी साक्षात्कार करना चाहता है उसको ऐसा समझो जैसे कोई नदी के पार जाने के लिये लकड़ी जानकर मगर को पकड़ ले, किन्तु उस व्यक्ति का नदी पार होना असम्भव है ॥८६॥ इसलिए ऐसे उक्त सभी गुरु लोग, देहाभिमानी होने से मुक्ति के अधिकारी नहीं हैं। जब तुम्हें ब्रह्मलोक के विषयों के भोगों में महाग्लानि हो जाएगी अर्थात् पूर्ण दृढ़ विराग हो जाएगा तब तुम आत्मज्ञान के अधिकारी अपने

आप बन जाओगे। इससे पहले तुम्हें मुक्ति की ओर से किसी प्रकार का भय न होना चाहिए। भले ही तुम दिनरात कितना ही सोहं-सोहं रटते रहो।

प्रश्न—यदि सुषुप्ति में आत्मा का शुद्ध निर्गुण रूप हो जाता है तो आचार्यों ने 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद् वेदिषम्'—मैं सुख से सोया मैंने कुछ भी नहीं जाना ऐसा वाक्य क्यों कह दिया है।

उत्तर—सुषुप्ति में कोई आत्मा को जड़ मानता है तो और कोई शून्य मानता है उनके मत को खण्डन करने के लिये आचार्यों ने ऐसी युक्ति घड़ ली है। इसलिए इसमें और कुछ भी तत्त्व नहीं है। किन्तु आचार्यों के ऐसे भाव को न समझ कर आज का वहुत सा अद्वैतवादी, अपने संप्रसाद इस नाम को भूलकर अपने को अज्ञानी वनाकर न्यायशास्त्र के सिद्धांत को अपना रहा है। आज का अद्वैतवादी, आत्मा को अज्ञान का आश्रय तथा आत्मा को ही अज्ञान का विषय बनाकर आत्माश्रय दोष का भागी बन रहा है। आज का अद्वैतवादी, विश्व आदि तीन पादों की अपेक्षा से चतुर्थ आत्मा के शुद्ध रूप को जाग्रत आदि किसी भी अवस्था में नहीं दिखा सका है। आज का नवीन अद्वैतवादी 'कर्मी छाया देत फल नहीं चेतन में जोग'—ऐसा कहते हुए कर्म करने वाली जीव रूपी छाया को और फल देने वाली ईश्वररूपी छाया को भिन्न-भिन्न मानकर भी उस ईश्वररूपी छाया को व्यापक बताकर अपने को तथा अपने सेवकों को ईश्वर की उपासना से विमुख कर रहा है। आज का बहुत सा अद्वैतवादी, मोक्ष की उपमा में दृष्टान्तरूप संप्रसाद स्थान (सुषुप्ति) को सर्वथा ही न जान करके मोक्ष से अत्यन्त ही दूर हो गया है। इसलिए वर्तमान के नवीन अद्वैतवादियों की प्रक्रियाओं से आत्म-जिज्ञासुओं को कुछ भी लाभ न होने से ये सभी प्रक्रिया व्यर्थ सिद्ध हो गई है।

विदेहमुक्ति की उपमा में दृष्टान्त तथा मुक्ति का स्वरूप

१. कैवल्य मुक्ति को प्राप्त हुआ कोई भी मनुष्य वहां से लौटकर नहीं आता। इसलिये वह वहां जो अपनी शुद्ध रूप से स्थिति है उसका वर्णन नहीं कर सकता।

२. मर जाने पर तथा महाप्रलय में जो अपनी शुद्ध ब्रह्म रूप से स्थिति है वह केवल आगम (शास्त्र) प्रमाण से सिद्ध हैं किन्तु वह अनुभूत नहीं है, इसलिये ये दोनों अवस्थाएं भी मोक्ष में प्रवृत्त कराने के लिये उपयोगी नहीं हैं।

३. निर्विकल्प समाधि, सबके मत में एक जैसी नहीं है। क्योंकि निर्विकल्प समाधि लगाने वाले गौतम तथा कणाद जी मुनि ने उसके द्वारा सुषुप्ति में तथा मुक्ति में आत्मा को जड़रूप मान लिया है। विष्णु भगवान के तथा निर्विकल्प समाधि के अवतार स्वरूप, कपिल जी मुनि ने सुषुप्ति में और मुक्ति में आत्मा का चैतन्यरूप निश्चय किया है। केवल निर्विकल्प समाधि ही नहीं किन्तु सब प्रकार की समाधियों के थोक माल का व्यापार करने वाले पतंजलि जी महामुनि ने उसके द्वारा सुषुप्ति में और मुक्ति में आत्मा का चेतन रूप ही अनुभव किया है। अब बताओ किस मुनि की निर्विकल्प समाधि को मोक्ष में दृष्टान्तरूप बनाएं। इसी से '**स यो मनुष्याणां०**' (बृ० ४।३।३३) इस श्रुति पर ऐसा भाष्य है—**तस्मात्संप्रसादस्थानं मोक्षदृष्टान्तभूतम्**—परिशेषतः अर्थात् अन्त में संप्रसादस्थान ही मोक्ष में दृष्टान्तरूप है। संप्रसाद-स्थान इसका अर्थ है कि जिस अवस्था में आत्मा सं (परम) प्रसाद (आनन्द) रूप से स्थित होता है वह संप्रसाद स्थान है। इसलिए सुषुप्ति ही संप्रसाद स्थान है। बृहदारण्यक में और छान्दोग्य० में आत्मा का संप्रसाद ऐसा नाम बहुत ही पाया जाता है। इसलिए सुषुप्ति ही मोक्ष के लिये उपमा है। इसी को आधार लेकर ब्रह्म-

सूत्र में (४।४।१६) 'स्वाप्ययसंपत्त्योः०' ऐसा सूत्र बनाया गया है। इसका अर्थ ऐसा है कि श्रुतियों में कहीं पर सुषुप्ति को लेकर विशेष ज्ञान का अभाव कहा है और कहीं पर मोक्ष को लेकर उसका अभाव कहा गया है। सुषुप्ति की आदि अवस्था आत्मा का आनन्दमय कोश है जोकि 'पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनां'—पुण्य के अनुभव में पुण्यवानों को ठीक-ठीक प्रकट होता है। अतः यह कोश रूप पड़दा पुण्य का कार्य है (विवे० २०९) सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था आत्मा का कारण शरीर है, यह भी पुण्यपाप का कार्य होने से प्राज्ञ का शरीर है। किन्तु शुद्ध आत्मा का रूप नहीं है। इसलिये सुषुप्ति की मध्य अवस्था ही किसी पुण्यपाप का कार्य न होने से आत्मा की स्वाभाविकी शुद्ध अवस्था है। इसी में विशेष ज्ञान का अभाव होने से यही आत्मा का संप्रसाद स्थान है, यही मोक्ष में प्रवृत्ति के लिये दृष्टान्त रूप है। सुषुप्ति में प्रारब्ध कर्म का और सूक्ष्म शरीर का अत्यन्त अभाव न होने से उसमें विशेष ज्ञान का भी अत्यन्त अभाव नहीं होता। इसी से वह सुषुप्ति के अन्त में पुनः उत्पन्न हो जाता है। किन्तु मोक्ष में प्रारब्ध कर्म का तथा सूक्ष्म शरीर का अत्यन्त अभाव होने से उसमें विशेष ज्ञान का भी अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसी से उसकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही सुषुप्ति में और मुक्ति में अन्तर है। विशेष ज्ञान का अभाव दोनों अवस्थाओं में समान ही है। इतने अंश को लेकर मोक्ष में सुषुप्ति का दृष्टान्त कहा गया है।

जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी, अपनी दृष्टि का विषय होता है। क्योंकि इसके साथ सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध होने से इसमें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी वृत्ति बनी रहती है और यह दूसरे लोगों की दृष्टि का भी विषय बना रहता है। क्योंकि इसका स्थूल शरीर अभी तक बना हुआ है। इसी से दूसरे लोगों में कोई इसको शिष्ट (श्रेष्ठ)

कहता है और अन्य कोई भ्रष्ट कहता है। इसीलिये जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी, स्वकीय) अपनी और परकीय (पराई) दृष्टि का विषय बना रहता है। किन्तु विदेहमुक्त आत्मा, अपनी दृष्टि का विषय नहीं होता। क्योंकि उसके सूक्ष्म शरीर का अत्यन्त अभाव हो जाने से उसमें 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसी वृत्तिरूपी विशेष ज्ञान का भी अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा वह दूसरे लोगों की दृष्टि का भी विषय नहीं रहता, क्योंकि उसके स्थूल शरीर का उससे सदा के लिये वियोग हो गया है। इसीलिए विदेहमुक्त आत्मा को शास्त्रों ने स्वकीय और परकीय दृष्टि का विषय नहीं माना है।

'भूमैव सुखम्। 'यत्र नान्यत्पश्यति'—(सनत्कुमार ने कहा हे नारद) भूमा (ब्रह्म) ही सुख रूप है। जहां और कुछ नहीं देखता है और जहां अन्य कुछ नहीं सुनता है तथा जहां और कुछ नहीं जानता है वह भूमा (ब्रह्म) है (छा०७।२४।१) इस श्रुति में मुक्ति अवस्था को लेकर आत्मा को ब्रह्म रूप तथा सुख रूप तो कहा गया है। किन्तु आत्मा को परमसुख रूप नहीं कहा गया है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए ही भाष्यकार ने प्रदीपवदावेश:—(ब्रह्म ४।४।१५) इस सूत्र के अवतरण में मुक्ति अवस्था को लेकर कही गई श्रुतियों में 'सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति' (वृ० ४।३।३२) इस सुषुप्ति अवस्था की श्रुति को भी ग्रहण किया है जिससे आत्मजिज्ञासु को ऐसा बोध हो जाए कि सुप्ति में और मुक्ति में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि परमानन्द की प्राप्ति मोक्ष का स्वरूप हैं ऐसी कोई भी श्रुति नहीं है। (परमानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। ऐसा सभी प्राचीन ग्रन्थकारों ने इस श्रुति के ही आधार पर लिखा है। किन्तु नवीन ग्रन्थकारों को तो सुषुप्ति की और मुक्ति की श्रुतियों का सम्यक् बोध ही नहीं है। इसीलिए इनके ग्रन्थों में सुषुप्ति की श्रुतियों

का कुछ भी महत्व नहीं है। सभी एक दूसरे की देखा देखी ग्रन्थों को लिख रहे हैं) उक्त श्रुति में सुषुप्ति ही आत्मा का अद्वैत रूप स्थान है, ब्रह्मलोक है, परमसंपत्ति है, परम गति है, परम लोक है और परमानन्द है ऐसा माना हुआ है। इसी के प्रमाण से ही मोक्ष में भी आत्मा का परमानन्द रूप माना गया है, इससे अति स्पष्ट हो गया कि विश्वभर के सिद्धान्तों की अपेक्षा. केवल अद्वैत ब्रह्मवाद सिद्धान्त ही वेद सम्मत सिद्धान्त है। क्योंकि केवल अद्वैतब्रह्म सिद्धान्त ही सुषुप्ति में और मुक्ति में आत्मा को परमानन्द मान रहा है। इसलिए पूर्वोक्त श्रुतियों के प्रमाणों से उस विदेहमुक्त आत्मा का मुक्ति में शुद्ध निर्गुण ब्रह्म रूप हैं। इस प्रकार जो किसी के भी ज्ञान का विषय नहीं है वह विदेहमुक्त है ऐसा कहा जाता है।

प्रिय पाठक महानुभावो

पछत्तर वर्ष की आयु में शास्त्रों के अध्ययन से मुझको जो बोध हुआ है उसे मैं लिख रहा हूँ यदि आप इसे सावधानी सेपढ़ेंगे तो बहुत अच्छा रहेगा। जिससे कि जीवित माता के शरीर का स्नान तथा सिंगार पुत्र नहीं कर सकता और मृत माता के शव का स्नान भी पुत्र नहीं करता है अतः यह आर्य संस्कृति है इसी से यह सनातन धर्म है। इसीसे अव्यक्त का रूप जो माया प्रकृति या बुद्धि रूपी देवी है अर्थात् स्त्रीमात्र को ही मैं स्नान चंदन आदि के द्वारा पूज्य नहीं मान सकता। वैदिक ऋषियों ने ही स्त्रियों और पुरुषों के मिलाप में परस्पर किसी प्रकार की गड़वड़ हो जाने की आशंका अनुभव की होगी, इसी से उन्होंने वैदिक कर्मकाण्ड में इन्द्र आदि देवताओं के पूजन के साथ उनकी इन्द्राणी आदि देविरूपस्त्रियों का पूजन नहीं माना है। तथा देवियों की स्वतन्त्र रूप से भी पूजा नहीं मानी है। इसी से धर्मशास्त्रों

में भी ब्रह्मचारी के लिये युवा गुरुपत्नी के चरणोंको स्पर्श करने का निषेध किया है। इसी से ब्राह्मणी भी पूज्या नहीं मानी है। इसी से तथा अन्य कई रोगों से ग्रसी हो जाने के कारण स्त्री को स्वतन्त्र होकर यज्ञ में यजमान बनने का निषेध किया है।

ऐसे तो अपने पूर्वकृत कर्म तथा उपासना के प्रभाव से प्राप्त की हुई बुद्धि की कुशलता से अनेकों स्त्रियां वैदिक सूक्तों की द्रष्टा अर्थात् देखने वाली ऋषिका तथा कई ब्रह्मचारिणी कई संन्यासिनी कई ब्रह्मवादिनी और कई विद्या का भण्डार भी हो चुकी हैं। अन्य कोई कोई शारीरिक बल की अधिकता से नर की बलि को लेने वाली तथा मदिरा मांस का सेवन करने वाली तथा अपनी वीरता का परिचय देने के लिये गले में नरों के मुण्डों की माला धारण करने वाली तथा अपने भयंकर कर्म से लोगों को भयभीत करके उनसे देवी के रूप में अपनी पूजा कराने वाली तथा सिंह को भी अपना वाहन बनाने वाली हो चुकी हैं तथा कई भूमिपति राणियां भी हो चुकी हैं। तो भी वेदों उपनिषदों में प्रकृति की पूजा नहीं मानी गई है। केवल पुरुष रूप देवताओं को पूज्य तथा पुरुष रूप परमात्मा को ही उपास्य ब्रह्म तथा ज्ञेयब्रह्म माना हुआ है।

हे प्यारी बुद्धि ! मैं बुद्धि के लिए जो प्रिय या प्यारी ऐसा संबोधन लिख रहा हूँ इसका कारण यही है कि मेरा बन्ध और मोक्ष इसके अधीन है. इसीलिए मैं इसकी प्रसन्नता के लिए प्यारी ऐसा संबोधन दूंगा। यह भी अनुभव हुआ है कि यह मेरे पीछे चलनेवाली नहीं है, किन्तु मैं ही इसके पीछे जानेवाला हूं, क्योंकि 'ध्यायती इव लेलायती इव' (बृ० ४।३।७) इस श्रुति का यही अर्थ है कि जब बुद्धि ध्यान करती है तो मैं (आत्मा) भी ध्यान करने वाला सा हो जाता हूं और जब यह चंचल होती है तो मैं भी चंचल सा हो जाता हूँ। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। वृत्तिसारूप्यमितरत्र'

(योगदर्शन पाद १ सूत्र ३-४) इन सूत्रों का भी यही अर्थ है कि वृत्तियों के निरोध-काल में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तथा वृत्तियों की चंचलता में आत्मा भी वृत्तियों के अनुरूप सात्विक आदि रूप हो जाता है। इस प्रकार यह आगे चलेगी और मैं इसके पीछे चलूंगा।

हे प्यारी बुद्धि! सुषुप्ति की मध्य अवस्था जो गहरी नींद है उस समय अव्यक्त-शक्ति रूपी तू स्वाश्रया थी स्व (मैं आत्मा) ही तेरा आश्रय था। इसलिये तू अपने में होनेवाले जो कारण-शरीर बुद्धि और मन रूप तीन भेद हैं उनसे रहित शुद्ध अव्यक्त रूपा थी। इसी से मैं (आत्मा) भी अपने में होनेवाले जो प्राज्ञ तैजस और विश्व रूप तीन भेद हैं इनसे रहित शुद्ध सच्चिदानन्द निर्गुण तुरीय चतुर्थ आत्मा ब्रह्म था, क्योंकि 'अव्यक्तात्पुरुषः परः" (कठ० १।३।११) अव्यक्त से परे पुरुष है अर्थात् मैं पुरुष ही तुम्हारे से सूक्ष्म और तुम्हारा प्रकाशक हूं। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तैत्तरीय० वल्ली २ अनु० १) परमात्मा सत्यरूप है, ज्ञानरूप है और असीम व्यापक है अर्थात् मैं सत्यज्ञान रूप आत्मा ही सर्वत्र व्यापक हूँ। इसलिए तुम्हारा मातुल और श्वसुरगृह मैं ही तो हूँ। तुम्हारा मेरे से भिन्न और कोई ठिकाना भी तो नहीं है। इसलिये तू मेरे ही आश्रित थी।

सुषुप्ति के अन्त में तू हृदय के बीच में मैं रूप से स्फुरणा होकर कारण-शरीर रूप परिणाम को प्राप्त हो स्वाश्रया से स्व-विषया हो गई। स्व (मुझ आत्मा को) विषय (ढकने वाली) हो गई क्योंकि उस अवस्था में तू मैं रूपसे नहीं थीं, इसी से मैं (आत्मा) शुद्ध निर्गुण रूप था। फिर इसी मैं वृत्ति के द्वारा मैं प्राज्ञ इस नाम वाला हो गया। मेरा प्राज्ञ ऐसा नाम इसलिये हुआ कि वहां मेरे में सभी विशेष ज्ञान घनीभूत (पिण्डरूप) होकर रहते हैं। किन्तु

तुमने जो मैं रूप आवरण को धारण किया यह अवस्था तुम्हारी स्वाभाविक नहीं थी। किन्तु शुभाशुभ कर्मों के ही द्वारा हुई थी। क्योंकि यदि मैं तुम्हारे को बिना कर्मों के स्वाभाविक ही परिणाम वाली मान लूंगा तब तू मुझको मोक्ष से भी खींच कर संसार में पटक सकती हो। इसलिए यह मैं रूप परिणाम तुम्हारा स्वाभाविक नहीं है। जब तू मैं वृत्ति रूपी कारण-शरीर बनकर हृदय में प्रकट हुई, तब मैंने तुम्हारे में प्रतिविम्बरूप वीर्य को डाल कर तुम्हें गर्भवती बना दिया। 'मम योनिः' (गीता १४।३)। हे भारत! कारण-शरीर मैं रूपी जो मेरी महाव्यापक योनि है मैं उसमें प्रतिबिम्ब रूप वीर्य को स्थापन करता हूँ, उसी से स्थूल और सूक्ष्म शरीर रूप सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति होती है। गीता में भी ऐसा ही निर्णय है। अच्छा किया तुमने जो मैं रूप कारण-शरीर द्वारा सूक्ष्म-शरीर की उत्पत्ति करके कण्ठ में आविराबी हो। तुम्हारा कारणशरीर यह नाम अब सफल होगया, मैंने भी प्राज्ञपनको त्यागकर कर्तारूप अपना तैजस नाम बना लिया है। इस अवस्था में विशेष ज्ञान कुछ चमक उठे हैं। इसी से मेरी तैजस ऐसी संज्ञा हुई है। अच्छा किया प्यारी! जो कि तुम कारण-अवस्था में युक्ताहार विहार से रही हो तथा कुसंग से बचकर रही हो। अन्यथा तुम्हारे में सूक्ष्म शरीर द्वारा माता-पिता को कैद करनेवाले कंस आदि जैसे अविवेक रूप पुत्र तथा पूतना के रूप में अश्रद्धा आदि पुत्रियां पैदा हो जातीं। यह युक्ताहार विहार तथा सुसंग का ही प्रभाव है, जिससे कि तुम्हारे-हमारे याज्ञवल्क्य मुनियों के समान विवेक आदि पुत्र पैदा हो रहे हैं और मैत्रेयी आदि ऋषिकाओं की तुलना में श्रद्धा आदि पुत्रियां उत्पन्न हो रही हैं। हे प्रिये! अब तुम बाहर की सैर करने के लिये मन प्रधान स्थूल शरीर की रचना करो! अच्छा किया प्यारी! तुमने जो कर्मयोनि मनुष्य-

शरीर बनाकर मन के रूप में दाहिने नेत्र में आ विराजी हो। मैं भी तुम्हारे साथ में अब तैजस के रूप से विश्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ हूं। यह जाग्रत अवस्था है। इसमें सभी विशेष ज्ञान पूर्ण रूप से प्रकट हो गये हैं। सुनो प्रिये ! जाग्रत अवस्था में आकर तो तुम सूर्य भगवान तक पहुंच गई हो, जोकि यहां से चार करोड़ पैंसठ लाख मील की दूरी पर बताया जाता है। तुम्हारा यह परिणाम बहुत वड़ी लम्बाई में पहुंच गया है। किन्तु मैं तो परिणामी नहीं हूं। क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—परमात्मा सत्यरूप है, ज्ञान रूप है और असीम व्यापक है। (तैत्तरीय० ब्रह्मानन्द वल्ली, अज-अनुवाक १) इस वैदिक मंत्र के प्रमाण से मैं तो ज्ञान रूप से सर्व व्यापक हूँ। इसलिये मुझको तुम्हारे साथ-साथ दौड़ धूप करने की आवश्यकता भी नहीं है तथा मैं तो 'अनेजदेकं' (ईशावास्य ४) इस मन्त्र के अनुसार इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति से पहले ही स्थित हूँ, इन भागने वाले इन्द्रिय आदि रूप देवताओं से व्यापक रूप से स्थिर होता हुआ ही इनका उल्लंघन करनेवाला हूँ।

हे प्यारी बुद्धि ! मुझ आत्मा के प्राज्ञ तैजस और विश्व ये पुत्र पौत्र तथा प्रपौत्र नहीं हैं, क्योंकि ये मेरे से अलग नहीं हैं, किन्तु ये मेरे ही विवर्त अर्थात् विशेष रूप हैं। इसी प्रकार अव्यक्त रूपा जो तुम हो तुम्हारी भी कारण बुद्धि और मन रूपी वृत्तियां ये पुत्री तथा दौहित्री आदि नहीं हैं। क्योंकि ये तुम्हारे से भिन्न नहीं है, किन्तु तुम्हारा ही परिणाम विशेष हैं। इसीलिये इन सबका परस्पर कारण-कार्यरूप मिलाप होने पर भी भगिनीगामी पुत्रीगामी आदि रूप होना पशुधर्म नहीं माना जा सकता है।

सुनो प्रिये ! तुमने जो मन रूप अपना परिणाम बना लिया है यह तुम्हारा नपुंसक रूप बन गया है। इसलिये आगे को उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसके आगे का नामरूपात्मक प्रपंच है। इसमें

कर्ता भोक्तारूप संसारीपन नहीं है तथा फल-प्रदाता रूप ईश्वरपन भी नहीं है। क्योंकि इसमें मेरे प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है। यह केवल भोग्यरूप वस्तु है, इसलिये जो कोई भी इस नाम रूपात्मक प्रपंच को फलप्रदाता ईश्वर का शरीर मान रहा है वह औपनिषद् ज्ञान से सर्वथा शून्य एवं महामूढ़ है। क्योंकि इस नाम रूपात्मक अपने कार्य में तू सामान्या शुद्ध अव्यक्त रूपा है—इसी से मैं भी सामान्य शुद्ध निर्गुण सच्चिदानन्दात्मा ब्रह्मरूप हूं। सत्ता-स्फूर्ति रूपी प्रेरणा करने से सबका अन्तर्यामी हूँ, किन्त सर्वज्ञ आदि विशेष धर्मों वाला फल प्रदाता ईश्वर नहीं हूं। क्योंकि अद्वैतवादी को एक शरीर में कर्ता भोक्ता जीव और फलप्रदाता ईश्वर के नाम से दो चेतनों का होना मान्य नहीं है। क्योंकि ये दोनों ही अपनी अपनी भिन्न भिन्न उपाधि के द्वारा भिन्न-भिन्न ही माने हुए हैं। इसलिए नाम रूपात्मक प्रपंच में सामान्य शुद्ध चेतन ही अस्ति-भाति प्रिय रूप से व्यापक है।

'त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। विकारावर्ति च (ब्रह्म. ४।४।१९) 'विष्टभ्याहमिदं' (गीता १०।४२) इत्यादि प्रकार के ऋग् आदि चारों वेदों के मंत्रों का सूत्रों का और श्लोकों का ऐसा अर्थ है कि पुरुष परमात्मा, अपने तीन पाद (पैरों) से उत्कृष्ट अपनी महिमा में विद्यमान रहता है और यह एक पाद द्वारा सृष्टि के रूप में हुआ है, अर्थात तीन पादों से शुद्ध निर्गुणरूप है तथा एक पाद में इसके माया है। इसका भावार्थ ऐसा समझना चाहिए कि विश्व में जहां जहां मन बुद्धि और कारण शरीर या आनन्दमय कोश रूपी अहं (मैं) वृत्ति है वह वहां विशेष चेतन है और जहां जहां ये वृत्तियां नहीं हैं, वहां वहां वह शुद्ध सामान्य चेतन निर्गुण ब्रह्म है (यही तीन पादों से शुद्ध कथन करनेवाले

मन्त्रों का अर्थ है।

हे प्यारी बुद्धि ! यदि सन्त निश्चल दासजी के कथन के समान उक्त वाक्यों का ऐसा अर्थ करते हैं कि शुद्ध चेतन ब्रह्मांड से बाहर है और सगुण चेतन ब्रह्मांड में है ऐसा होना तो सर्वथा ही असंभव है। क्योंकि वायु आदि चार महाभूत तो ब्रह्मांड से बाहर नहीं भी होवेंगे किन्तु आकाश तो ब्रह्मांड के बाहर भी अवश्य है। इसलिए वहां अव्यक्त भी अवश्य ही है। इसलिए उक्त प्रकार के चेतन की ब्रह्मांड से बाहर की कल्पना सार्थक नहीं है।

हे प्यारी बुद्धि ! आलस को त्याग, वृत्ति को एकाग्र करके सुनलो ! यह हमारे सबके अति हित करने वाली बात है। उपनिषदों की जिस श्रुति में या मंत्र में ईश ईश्वर महेश्वर सर्वेश्वर अन्तर्यामी सर्वान्तिर्यामी सर्वज्ञ और सर्ववित् आदि नाम आते हैं उनके अर्थों को प्रकरण के अनुसार समझना चाहिये। जहां केवल ईश आदि कोई शब्द आता है वहां जैसा कि 'ईशावास्यमिदं सर्वं'— यह सब ईश्वर से व्याप्त है (ईशावास्य १) ऐसा केवल ईश आदि कोई शब्द आता है, उससे सत्चित् आनन्द या अस्ति-भाति प्रिय रूप आत्मा के सामान्य व्यापक रूप अर्थ को ग्रहण करना चाहिए, किंतु जहां पर ईश आदि नाम के साथ सत्यकाम और सत्य-संकल्प आदि रूप ऐश्वर्य भी लगा है वहां पर ईश्वर से महत्तत्त्व रूपी बुद्धि के युक्त सूर्यस्थानी जो हिरण्यगर्भ उपास्यरूप विशेष चेतन है उसको ग्रहण करना चाहिए। उपनिषदों में यही एक बड़ी गहरी दल दल थी जिससे हम पार हो चुके हैं।

हे प्यारी बुद्धि ! मैं तुम्हें अपने से भिन्न नहीं कर सकता। क्योंकि मैं भी व्यापक हूँ और तू भी व्यापक है। **'अव्यक्तात् तु परः पुरुषः'**—अव्यक्त से व्यापक और निराकार पुरुष परे है अर्थात् उसका प्रकाशक और उससे सूक्ष्म है जिसको जानकर जीव,

मुक्त तथा अमर हो जाता है (कठ २ । ६ । ८) इस प्रकार तू मेरे तक तो व्यापक ही है। तब फिर तुम्हें भिन्न (जुदा) कभी भी नहीं कर सकूंगा। मैं तुम्हें अपने से अभिन्न भी नहीं कर सकूंगा। क्योंकि मैं चेतन हूं और अपरिणामी हूँ, अर्थात् परिवर्तनशील नहीं हूँ। किन्तु तुम जड़ हो और परिणाम वाली हो। इस प्रकार हम दोनों के विपरीत धर्म होने से मैं तुम्हें अभिन्न (मिला) भी नहीं सकता। इसलिए तुम न तो मेरे से भिन्न हो और नाही अभिन्न हो।

हे प्रिय बुद्धि ! यदि मैं तुम्हें ऐसा कहूंगा कि तू तो मेरे में आकाश के पुष्पों के समान, सहे के सींग के समान, वन्ध्या के पुत्र समान, आकाश में नीलिमा के समान, रस्सी में सर्प के समान, स्थाणु में चोर के समान, सीपी में रजत (चांदी) के समान और मरूभूमि में मृगतृष्णा के जल के समान तीन कालों में भी नहीं हो। तव तू इस प्रकार मेरे से अपमानित होकर अतिरुष्ट होकर ऐसा कहोगी कि मैं जाग्रत में 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूं रूप मन के सहित तुम्हारे मुख में बैठी हूं, स्वप्न में बुद्धि रूप से तुम्हारे गले में बैठी हूं, सुषुप्ति की आदि अवस्था में सुखी हूं ऐसी वृत्ति रूप जो आनन्दमय कोश है इस रूप में तुम्हारे हृदय में विराजती हूँ, और सुषुप्ति की मध्य अवस्था में मैं सामान्या रूप से तुम्हारे साथ हूँ और सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था में कारण रूपा मैं इस वृत्ति से तुम्हारे हृदय में प्रकट हो जाती हूँ। सुषुप्ति की मध्य अवस्था भूतकाल है, सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था स्वप्न जाग्रत फिर स्वप्न फिर सुषुप्ति की आदि अवस्था यह वर्तमान काल है तथा फिर सुषुप्ति की मध्य अवस्था यह भविष्यकाल है। इस प्रकार तीन अवस्थाओं में और तीन कालों में मैं तुम्हारे साथ ही तो हूँ तव फिर उक्त प्रकार की बातें कह करके मुझे रुष्ट क्यों कर रहे हो ?

हे प्रिये ! यदि मैं कहूँगा कि विदेहमुक्ति की दशा में तू मेरे साथ नहीं रह सकोगी तो भी तुम रुष्ट होकर ऐसा कहोगी कि मुक्ति की दशा में भी मेरे बाल गोपाल रूप जो यह आकाश आदि पांच महाभूत हैं इनके साथ यहां ही तुम रहोगे यहां से कहीं भाग तो नहीं जाओगे। सामान्य सच्चिदानन्द रूप से यहां ही रहोगे। तब मैं भी सामान्यरूपिणी होकर अपने आकाश आदि बाल गोपालों का आधार होकर तुम्हारे साथ ही रहूँगी। इस प्रकार मोक्ष की अवस्था में भी हमारा तुम्हारा संबन्ध-विच्छेद रूप तलाक नहीं हो सकेगा।

हे प्यारी ! यदि मैं कहूंगा कि सुषुप्ति की मध्य अवस्था से हम तुम सती और शिव के रूप में होकर सृष्टि की उत्पत्ति को करने के लिए कारण शरीर के रूप में आए हैं तो यह बात तुम्हें स्वीकार नहीं है। क्योंकि तुम कहती हो कि सती ने तो दक्ष के यज्ञ में अपने शरीर का दाह किया था, फिर हिमाचल के राजा के घर जन्म लेकर शंकर के साथ पुनर्विवाह करा कर अपना गौरीशंकर या पार्वती महादेव ऐसा नाम ग्रहण किया था। किन्तु मैं तो उस जैसी वियोगिनी नहीं हूँ। यदि मैं सीता राम की उपमा दूंगा यह भी तुम्हें स्वीकार नहीं है क्योंकि तुम कहती हो कि राम ने तो सीता को वनवास दिया था। वह फिर राम के बुलाने पर भी रामजी के पास नहीं आई थी, वहां पृथिवी में ही समा गई थी। किन्तु मैं तो उस जैसी नहीं हूं। यदि मैं राधा कृष्ण की उपमा देता हूँ तो तुम हा ३ ऐसे कहती हुई दुख से आर्त होकर ऐसा कहती हो कि राधा तो कृष्ण जी के साथ में बाल अवस्था में खेलती रही। दश वर्ष की अवस्था में ही कृष्ण जी मथुरा में चले गए थे। उसके अनन्तर तो राधा को कृष्ण जी के दर्शन तक भी नहीं हुए थे। राधा के माता-पिता कीर्ति और वृषभानु ने

ने राधा की सर्वथा ही इच्छा न होने पर भी राधा का विवाह 'रायण' इस नाम वाले पुरुष के साथ कर दिया था, किंतु राधा को वह पसंद नहीं था। इसी से राधा तो विवाह के समय से भिन्न अन्य किसी भी समय में रायण' के पास नहीं गई थी। बेचारी ने अपना सारा जीवन अपने माता पिता के घर में ही वियोगिनी के रूप में व्यतीत किया था। इसी से वृन्दावन के कई एक वैष्णव लोग, राधा को परकीया स्त्री अर्थात पराई स्त्री मानकर राधा सहस्र' नाम में 'वृषभानुसुता राधा जारिणी 'जारसंगिनी' ऐसा उच्चारण करते हुए सखी भाव में अपने को मानते हुए उक्त प्रकार की राधा की प्रशंसा करते हैं। किंतु मैं तो राधा जैसी वियोगिनी नहीं हूं। सदा ही तुम्हारे साथ रहनेवाली हूँ। यदि मैं तुम्हें लक्ष्मीनारायण की उपमा देता हूं तो तुम किसी अंश में इस उपमा को स्वीकार करती हुई कहती हो कि लक्ष्मी का नारायण से जब से संयोग हुआ है तब से इनका वियोग नहीं हुआ है। यदि कोई शाक्त (शक्ति का उपासक) इनके अप्रसिद्ध वियोग की कल्पना करता है तो वह महाधूर्त माना जाएगा, किंतु हे प्रिये! इस उपमा से वैष्णव लोग तो अवश्य रुष्ट हो जाएंगे। क्योंकि इनके ये दोनों ही आराध्य देव हैं, किंतु इनको रुष्ट तो नहीं होना चाहिए। क्योंकि हम दण्डी संन्यासी सभी लोग, नारायणी संप्रदाय के लोग हैं। इसीलिए हमारी आचार्य परम्परा के मुख्य आचार्य नारायण ही हैं। इसी से हम 'नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं०' इस प्रकार वंदना में सबसे पहले नारायण को ही वन्दना करते हैं।

हे प्रिये! विष्णुजी के अवतारों के उपासक तो वैष्णव हैं। लक्ष्मी नारायण के जो उपासक हैं ये लोग मुख्य वैष्णव हैं किंतु हम दण्डी संन्यासी लोग, प्रमुख वैष्णव हैं। क्योंकि हम लोग उपासना पक्ष में तो नारायण के सेवक हैं, किन्तु हम अध्यात्मवाद की दृष्टि

से स्वयं नारायण हैं। ऐसा होते हुए भी यदि कोई दण्डी संन्यासी शैव (शिवजी का) उपासक बनता है, अथवा शाक्त (शक्ति का भक्त) होता है तो वह अपनी मनमानी करता है, किंतु किसी के प्रणाम करने पर तो वह मुख से नारायण, नारायण, नारायण ऐसा ही रटता है। हे प्यारी! वैसे तो यह सब ठीक ही है। परंच इस रहस्य या भाव को न जानने वाले यदि किसी मूर्खानन्द वैष्णव ने अपने पर लाठी चार्ज कर दिया तब तो अपने को हस्पताल में ही भरती होना पड़ेगा। इसलिए यह उपमा भी अपने लिए अनुकूल नहीं बैठती है। प्रियाजी ! अब माया-माधव का दृष्टान्त बना लेते हैं इस से वैष्णव लोग भी रुष्ट नहीं होवेंगे, क्योंकि वे समझ गए हैं कि माया तो मिथ्या है ऐसा बकने का वेदान्तियों का कुछ स्वभाव सा ही हो गया है अत: वे तो रुष्ट नहीं होवेंगे, पर इसमें एक और गड़बड़ पैदा होवेगी। क्योंकि खत्री जाति में प्रसिद्ध जो सोनीवंश है (पेशावर युद्ध में अधिक मात्रा में सुवर्ण प्राप्त करने से यह जाति 'सोनी' नाम से प्रसिद्ध हुई है) उस वंश में परम धार्मिक स्वर्गीय जो श्री मुरारीलालजी सोनी हैं उनकी धर्मपत्नी का नाम माया है, जिनकी सोहनदेवी पुत्री है और पंजाब नैशनलबैंक के जनरल मैनेजर जो श्री सीताराम जी महेन्द्र हैं वे इनके जामाता हैं जो पटियाले वाले थे खत्री सभा के प्रधान थे, स्कूलों के डायरैक्टर थे, जनहित के कार्यों में निरंतर संलग्न थे, कुरुक्षेत्र में गीताभवन का निर्माण कर चुके थे और पंजाब हाई कोर्ट के चीफ जस्टिस (बड़े जज) श्री गिरिधारी लाल जी चोपड़ा के पिता थे, ऐसे जो स्वर्गीय श्री दयाली रामजी चोपड़ा थे उनकी यह माया पुत्री है, यह माया रुष्ट हो जावेगी, इसके रुष्ट होते ही इसके जो रामाधार राज और महेन्द्र सोनी नाम के पुत्र हैं वे रुष्ट हो जावेंगे और इनके रुष्ट होते ही जो

इनकी कान्ता,पुष्पा और कमला नाम वाली पत्नियां हैं ये तो अपने को प्रणाम तक भी नहीं करेंगी, किन्तु इन सबको रुष्ट करना ठीक नहीं है। क्योंकि इससे कृतघ्नता दोष आ जाता है जो कि यह साधु-सन्त के लिए सर्वथा अशोभनीय एवं निन्दनीय कुकर्म है। सोनियां मंदिर इस नाम से प्रसिद्ध लुधियाना में जो इनका मन्दिर है इसमें हम चालीस वर्ष से सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं और ये लोग अपनी सेवा करने से अपने सेवक भी हैं। उपर्युक्त दोष आ जाने से माया-माधव की उपमा भी ठीक नहीं बैठती है। हे प्यारी जी ! अपने मुख से सोनियां मन्दिर ऐसा सुनते ही कई एक दण्डी संन्यासी भी चकित होकर कह देते हैं कि क्या आप सराफों अर्थात् सोनारोंके मन्दिरमें रहते हैं। क्योंकि जन साधारण में सोनी ऐसा नाम सराफ और सोनार का ही प्रसिद्ध है। ऐसे भ्रम की निवृत्ति के लिये ही हमने इनके बन्धु बान्धवों का नाम लिखा है। नहीं तो अध्यात्मवाद में ऐसे नामों का ग्रहण करना अनावश्यक ही है किन्तु लोगों के भ्रम की निवृत्ति के लिये इन नामों को लिखना पड़ा है। इस से दण्डी संन्यासी आदि लोगों को पूरा-पूरा ज्ञान हो जायेगा कि यह सराफों अर्थात् सोनारों का मन्दिर नहीं है, किन्तु यह सोनी खत्रियों का ही मन्दिर है।

जिससे कि अध्यात्मवाद में किसी भी पौराणिकी तथा लौकिकी स्त्री का नाम ठीक नहीं बैठता है, इसलिए वैदिक नाम ही निर्दोष होने से सर्वोत्तम नाम हैं। इसलिये इनको ग्रहण करना ही उचित है। हे प्यारी बुद्धि ! सुषुप्ति की मध्य अवस्था तुम्हारा अव्यक्त नाम है और तुम्हारा अव्यक्त ही रूप है। वहां तुम मुझ सदात्मा का संप्रसाद स्थान हो अर्थात् मुझ आत्मा के परमप्रसन्न होने का स्थान हो। इसी से तो ब्रह्मवेत्ता लोग, सुषुप्तावस्था को छोड़ कर अन्य किसी अवस्था में जीव की स्वरूप

प्राप्ति को स्वीकार नहीं करते' ऐसा भाष्य है। वहां तुम भी साम्या या सामान्या हो और मैं भी सामान्य सच्चिदानन्द हूं। तुम गुणवती हो किन्तु मैं निर्गुण हूँ। तुम सापेक्ष ब्रह्म या व्यापक हो। क्योंकि तुम अपने कारण शरीर और बुद्धि मन आदि कार्य प्रपंच की अपेक्षा से तो बड़ी हो, किन्तु तुम मुझ सदात्मा पुरुष से छोटी हो इसी से तुम सापेक्ष ब्रह्म या बड़ी हो। मैं निरपेक्ष ब्रह्म या व्यापक हूँ अर्थात् बड़ा हूं। क्योंकि तुम मेरे समान और मेरे से अधिक बड़ी नहीं हो। इसी से मैं निरपेक्ष ब्रह्म हूँ। क्योंकि **'अव्यक्तात्पुरुषः परः'**—अव्यक्त से परे पुरुष है, ऐसी श्रुति है (कठ० १।३।११) तुम भी सत्य हो और मैं भी सत्य हूं। यदि जाग्रत अवस्था वाले किसी महानास्तिक का बुद्धि मन तुम्हारे नाश के लिये उद्योग करेगा तो वह तुम्हारे पास में न पहुंचकर रास्ते में ही स्वयं अन्धा हो जावेगा। क्योंकि तुम अव्यक्त हो अर्थात् छिपी हुई वस्तु हो। इसी से तुम कार्यानुमेया हो अर्थात् बुद्धि मन आदि कार्य की उत्पत्ति का हेतु होने से अनुमान का विषय हो। किन्तु तुम किसी के भी बुद्धि मन का विषय नहीं हो, इसीलिए तुम किसी के हाथ आनेवाली वस्तु नहीं हो। कार्यानुमेया होने से ही तुम सत्या हो, किन्तु किसी से कल्पित नहीं हो। क्योंकि जैसे मृत्तिका (मिट्टी) अपने पिण्डाकार (गोलाकार) द्वारा घट रूप कार्य का कारण है किन्तु मिट्टी साक्षात् स्वयं घट आदि कार्य-का कारण नहीं है। इसीलिए 'वाचारम्भण' श्रुति के अनुसार, मिट्टी का पिण्डाकार कारणरूप विकार और घट आदि कार्यरूप विकार वाणी पर अवलम्बित नाम मात्र हैं। सत्य तो केवल मिट्टी ही है। इसी प्रकार तुम अव्यक्त भी अपने कारण शरीर द्वारा बुद्धि मन आदि रूप कार्य की कारण हो किन्तु तुम साक्षात् स्वयं बुद्धि आदि कार्य के कारण नहीं हो। इसी से तुम अव्यक्त का कारण

शरीराकार जो कारण रूप विकार है और जो बुद्धि आदि कार्य रूप विकार है यह वाणी का विलास नाम मात्र है, किन्तु सत्य तो तुम केवल अव्यक्त ही हो। इस प्रकार तुम सत्य होने पर भी मुझ सदात्मा में द्वैत का कारण नहीं हो। क्योंकि तुम अव्यक्तरूपा मुझ सदात्मा में छिपी हुई वस्तु हो। इसी से मैं एक ही अद्वितोय सत हूं!

सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था तुम्हारा कारण शरीर है, यह वैदिक नाम तुम्हारा प्रसिद्ध ही है। किन्तु यदि मैं इसके साथ अविद्या या अज्ञान ऐसे शब्द का प्रयोग कर दूं तब तुम्हें इसमें कुछ आपत्ति तो नहीं है। बताओ! हे स्वामी जी महाराज! देखना ऐसी भूल मत कर बठना। क्योंकि यदि तुम मेरे को कारण शरीर अविद्या अथवा कारण शरीर अज्ञान ऐसा कहते हुए अपने को मैं विद्वान हूँ या ज्ञानी हूँ ऐसा कहोगे तो लोग आपको कहेंगे कि देखो जी! यह अविद्या का तो पुत्र है किन्तु कहता है कि मैं विद्वान हूँ या ब्रह्मज्ञानी हूँ। यह तो वर्णसंकर है ऐसा कह कर तुम्हारी हंसी उड़ायेंगे। क्योंकि यदि यह अविद्या या अज्ञान का कार्य है तो इसको अपने लिए मैं अविद्वान हूं या अज्ञानी हूँ ऐसा कहना चाहिए था किन्तु इसके विपरीत यह अपने को विद्वान और ब्रह्मज्ञानी बता रहा है, इसी से यह वर्णसंकर है और यह असम्भव कल्पना करनेवाला भी है। इसलिए तुम मेरे साथ अविद्या या अज्ञान ऐसा शब्द नहीं लगाना। जाग्रत में आकर जब मैं कर्ता हूँ और मैं भोक्ता हूँ इस परिणाम वाली होऊंगी तब मैं अविद्या या अज्ञान कहलाऊंगी और साथ में तुम्हारे को भी अविद्वान और अज्ञानी बना दूंगी। जब मैं अकर्ता हूँ और मैं अभोक्ता हूँ, असंग हूँ और निर्विकार हूँ ऐसे परिणाम को धारण करूंगी तब मैं विद्या और ज्ञान ऐसे नाम वाली होकर साथ में तुम्हारे को भी विद्वान और

ब्रह्मज्ञानी बना दूंगी। खबरदार! यदि जाग्रत से पहले मुझे अविद्या या अज्ञान कहा तो। सत्य वचन प्यारी जी क्षमा करो। आगे को ऐसा अपमान जनक शब्द तुमको नहीं कहूंगा। जोकि हम दोनों को ही कलंकित करनेवाला हो।

हे प्यारी! यदि मैं तुम्हारे को अविद्या या अज्ञान ऐसा बोलता हूं तब तो तुम नाराज होती हो। यदि मैं कारण शरीर विद्या या ज्ञान ऐसा शब्द तुमको कहता हूं तो हमारे वेदान्ती भ्राता मुझ पर कोप करते है। क्योंकि इन्होंने कारण अवस्था में ही तुम्हारा नाम कारण शरीर अविद्या ऐसा नाम रखा हुआ है। इसलिये मैं केवल कारण शरीर ही तुम्हारा नाम रखता हूँ। इस समस्त लेख का भाव यह है कि सुषुप्ति की मध्यम अवस्था से सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था में तुम कारण शरीर या प्रकृति का रूप बनकर और मैं प्राज्ञ रूप धारण कर सृष्टि की उत्पत्ति करने के लिए बहिर्मुख या बाहर हुए हैं।

हे प्रिये! ऐसा स्मरण रखना। सुखमनि साहिब जी की जो इक्कीसवीं अष्टपदी है इसके छै पद तो सुषुप्ति की मध्य अवस्था को लेकर कहे गये हैं और सातवां तथा आठवां पद ये दोनों पद सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था स्वप्न और जाग्रत से सम्वन्ध रखते हैं। हे प्यारी! जो व्यक्ति मेरे और तुम्हारे उक्त सम्वाद को प्रेम से पढ़ेगा उसको इक्कीसवीं अष्टपदी का अर्थ ठीक-ठीक समझ में आजायेगा। हे प्यारी बुद्धि! मैं ज्ञान स्वरूप आत्मा, अनन्त व्यापक हूं और तुम भी अपने कार्य की अपेक्षा व्यापक ही हो। हमारे और तुम्हारे मेल से पैदा होनेवाला यह मैं और मेरा रूप जो विशेषज्ञान है यह भी असीम ही है।

हमें तो यह भी पता नहीं कि दो ही मिण्ट में यह कौन सा रूप धारण करता है। इसलिए इसको लेख में आवद्ध करना यह

तो सर्वथा ही असम्भव है। पुस्तक का आकार अनिच्छित ही बढ़ गया है। इसलिए अब मैं संक्षेप में ही लिखूंगा। लेख में कुछ सार होना चाहिए। नहीं तो बड़े लेख से भी कोई लाभ नहीं है। 'सता सोम्य तदा' (छा० ६।८।१) 'सलिल एको द्रष्टा०' (बृ० ४।३।३२) इन श्रुतियों के अनुवाद सुनो प्रिये ! सुषुप्ति की मध्य गहरी नींद रूप जो संप्रसाद स्थान परमधाम अथवा ब्रह्मलोक है उससे तथा 'शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धः' (छा० ६।८।२) इसके अनुसार कर्म रूपी डोरी से बन्धे हुए हम पक्षी उड़कर जाग्रत में आ गए। यहां आकर हमने सदा सुखी होने के लिए और दुख की अत्यन्त निवृत्ति के लिये अनेकों काम्य कर्म रूपो प्रयत्न किये किन्तु वे सर्वथा ही निष्फल निकले। 'ये हि संस्पर्शजा भोगाः' (गीता ५।२२)। हे कौन्तेय ! जो भी शब्द आदि विषयों के सम्बन्ध से होनेवाले भोग हैं वे सभी उत्पत्ति और विनाशशील होने से दुःख के ही कारण हैं, इनमें बुद्धिमान मनुष्य रमण नहीं करता अर्थात् इनमें सुख नहीं मानता। श्री कृष्ण जी का ऐसा वचन मान करके हमें विषयों में ग्लानि मान करके वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मो को निष्काम भाव से करना चाहिये। अच्छा प्यारे ! ऐसा ही होगा। अब हमने निष्काम भाव से कर्म करके अपने चित्त के रागद्वेष नामी मलरूप दोष को निवृत्त कर लिया है। बहुत अच्छा हो गया। अब हमने आदित्यस्थानी वैदिक हिरण्यगर्भ ईश्वर की उपासना करके चित्तके विक्षेप नामी चंचलता रूप दोष को भी अलग कर दिया है। फिर हमने विवेक आदि चार साधनों के सहित होकर वेदज्ञाता ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले गुरु की शरण में जाकर आत्मज्ञान को प्राप्त कर अपने चित्त से आवरण (पड़दा) नामी मलरूप दोष का भी नाश कर लिया है। अब तुम जीवन्मुक्ति हो गई हो इसी से मैं भी जीवन्मुक्त हो गया हूँ। अब हमें परमधाम संप्रसाद स्थान

या सुषुप्तिरूपी विदेहमुक्ति में वापिस जाने के लिए आगामी (आगे को किए जाने वाले) कर्मों का त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि यदि हम पंचवर्षीय या दस वर्षीय योजना के चक्कर में फंस जाएंगे ? अथवा किसी ऐसे कर्म का आरम्भ कर देंगे जो कि दूसरे जन्म में भी पूरा होनेवाला नहीं है। तब फिर विदेह मुक्ति होने की तो आशा ही क्या है किंतु हमारी यह जीवनमुक्ति भी खतरे में अवश्य ही पड़ जाएगी । इसलिए अब हमें स्त्राभाविक कर्म ही करने चाहिए किन्तु लंबे आरम्भ नहीं रंभणे चाहिए। अब हमें आत्मज्ञानरूप अग्नि में विरागरूप ईन्धन लगाकर इस आत्मज्ञान रूप अग्नि को प्रज्वलित करके संचित (जमा हुए) कर्मों का दाह कर चाहिए। ऐसा सभी कुछ करना तुम्हारा ही काम है। क्योंकि तुम मेरी प्रधान मंत्रिणी हो। मैं तो निमित्तमात्र का राष्ट्रपति हूँ, किन्तु सब कुछ करने घरने वाली तुम ही हो। यदि तुम अन्तर्मुखी होवोगी तो मैं भी अन्तर्मुख सा हो जाऊंगा । (इसी से तो आर्य संस्कृति में पुरुष से पहले स्त्री का नाम लिया जाता है) इस लिए तुम पूरी पतिव्रता बन जाओ अब तुम विजातीय प्रत्यय के त्याग पूर्वक अर्थात् दूसरी जाति वाले जो देह इन्द्रियां हैं इनमें मैं पनका त्याग करके सजातीय प्रत्यय की आवृत्ति पूर्वक अर्थात् अपनी जाति जो सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है केवल इसमें मैं सच्चिदानन्द हूँ ऐसी वृत्ति का अखण्ड प्रवाह वहा दो। इससे पूर्वसंचित (जमा हुए) कर्मों का दाह होगा अर्थात् वे सभी कर्म सदा के लिए दग्ध हो जाएंगे। ऐसा ही श्रुतियों में वर्णन है। दाह को प्राप्त हुए कर्मों की यही परीक्षा है कि जव हमारे चित्त में हमारी इच्छा के विरुद्ध कोई भी संकल्प या विकल्प नहीं उठेगा तब समझना कि हमारे संचित कर्मों का दाह हो गया है। प्रिया जी ! जव प्रारब्ध कर्म समाप्त होगा तब देह

पात हो जाएगा। इसकी कृमि, विष्ठा या भस्म संज्ञा हो जाएगी। इन्द्रियां अपने अपने कारण जो आकाश आदि पांच भूत हैं इनमें मिल जाएंगी। इसलिए हिरण्यगर्भ ईश्वर से ये याचना करके ली हुई सारी सामग्री उसी को वापिस दी जाएगी। 'ता एता देवता सृष्टा' (ऐतरेय खण्ड २।१) हिरण्यगर्भ ईश्वर के द्वारा रचे हुए ये अग्नि आदि देवता इस महान समुद्र में जा पड़े। तव ईश्वर ने उनको भूख और प्यास के सहित कर दिया, तव वे अग्नि आदि देवता हिरण्यगर्भ से बोले हे भगवन! हमारे लिए ऐसे स्थान को वना दीजिए जिसमें बैठ कर हम अपने अपने खाद्य और पेय को सेवन कर सकें ॥१॥ इस प्रकार प्रार्थना करने से ब्रह्माजी ने आकाश आदि पांच स्थूलभूतों की उत्पत्ति करके और उनका एक को दूसरे में मिलान रूप पंचीकरण करके उससे उन देवताओं के पूर्व किए कर्मों के अनुसार सबके लिए स्थूल शरीर वना दिए। इसलिए विष्णु शिव आदि देव तथा दानव और मानव आदिकों के सबसे पहले स्थूल शरीर ब्रह्माजी ने वनाए हैं। हे प्यारी! इसीलिए यह सामग्री उसी को वापिस की जाएगी। अव उसकी इच्छा है भूतों का नाश करे या न करे। हमारा इसमें कुछ भी हस्तक्षेप (दखल) नहीं है। हमें इनके नाश की अनिष्ट चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

हे प्यारी बुद्धि! मन तुम्हारा अपना रूप है, इसका भूतों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि यह शब्द आदि तन्मात्राओं का कार्य नहीं है। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः' (कठ० १।३।१०) इन्द्रियों से परे अर्थात् सूक्ष्म, शब्द आदि विषय हैं और विषयों से परे मन है जोकि इनसे सूक्ष्म और इनका प्रकाशक है। इसलिए शब्द आदि विषयों से मन की उत्पत्ति को मानना यह श्रुति संगत नहीं है। तुम जो मूल रूप अव्यक्त हो

उसी के कारण शरीर बुद्धि और मन ये तीनों रूप हैं। इसलिये तुम अपनी इन तीन विकारी अवस्थाओं का मैं सच्चिदानन्द हूँ ऐसी धारणा करके इन विकारी अवस्थाओं को अपने में लीन करो। मैं तो तुम्हारे पीछे चलने वाला हूं जब तुम अपने मूलरूप अव्यक्त में चली जाओगी तो मैं भी विश्व तैजस और प्राज्ञ इन तीनों सगुण नामों को त्याग करके निर्गुण शुद्ध आत्मारूप से स्थित हो जाऊंगा। हे प्यारी! अब तुम 'यं यं वापि स्मरन् भावं'— (गीता ८।६) हे कौन्तेय! मृत्यु के समय मनुष्य, जिस-जिस देव या मानव आदि भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है उसी देव-दानव आदि भाव में रंगा हुआ उसी-उसी देव आदि भाव को प्राप्त हो जाता है। हे प्रियतमे! कृष्ण जी के इस कथन के अनुसार अब तुम भी लम्बी सुषुप्ति रूपी विदेहमुक्ति की प्राप्ति के लिये मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं इस अन्त समय में ऐसी धारणा बना लो। अच्छा किया प्रिया जी! तुमने जो ऐसी धारणा बनाली है। यह भी अच्छा किया जो कि ज्ञान रूप अग्नि से सम्पूर्ण कर्मों का दाह कर लिया है। ये ही तो तुम को सप्रसाद स्थान रूप परमधाम से खींच कर संसार में लाये थे 'यथा शकुनिः' (६।८।२) छान्दोग्य की इस श्रुति में कहा हुआ तुम्हारा पक्षी-रूप और तैत्तरीय में अन्नमय आदि नाम से कहा हुआ तुम्हारा आनन्दमय कोश पक्षीरूप यह अब रस्सी रूप कर्मों का सर्वथा दाह कर चुका है।

हे प्रिये! सुषुप्ति की अन्तिम अवस्था में तुम्हारा नाम कारण-शरीर होता है, क्योंकि वहां से सृष्टि का आरम्भ होता है। सुषुप्ति की आदि अवस्था यह आनन्दमय कोश है। क्योंकि इसमें हमारी कारणता समाप्त होने लगती है। अब हम जाग्रत में और स्वप्न में होनेवाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय

इन चारों कोशों को त्यागकर अर्थात् इनमें अनात्म बुद्धि करके पांचवां जो जीवन्मुक्ति रूप आनन्दमय कोश है इसमें आ विराजे हैं। आत्मज्ञानी की जो जीवन्मुक्त अवस्था है, यह आनन्दमय कोश ही होता है। क्योंकि यह पुण्य विशेष का फल है। किन्तु आनन्दमयकोश रूपी जो जीवन्मुक्ति अवस्था है यह कोश रूप होने से इसमें वस्तुतः मुक्तिपन नहीं हैं। इसी से मैंने 'जीवन्मुक्ति में मुक्तिपन का अभाव' ऐसा दसवां प्रकरण लिख दिया है। क्योंकि इस आनन्दमय जीवन्मुक्ति रूप पक्षी का सुषुप्ति की मध्य अवस्था में 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' ब्रह्म ही पुच्छ है। क्योंकि कोई भी पक्षी हो वह पूंछ के सहारे से ही आराम से बैठता है। इसलिये आनन्दमय वृत्तिरूप पक्षी का ब्रह्म ही आधार है। इसीलिये जो जीवन्मुक्ति है यह वास्तविक मुक्ति नहीं है। प्रिया जी ! अच्छा है तुम जो समस्त कर्मों का दाह करके मन बुद्धि और आनन्दमयी 'मैं ब्रह्म हूं' इस वृत्ति को भी अपने वास्तविक स्वरूप अव्यक्त में मिलाकर आत्माश्रया होना चाहती हो, किन्तु प्रिया जी ! यह वार्ता आर्य-संस्कृति के अनुकूल नहीं है। क्योंकि तुम मेरे से पहले मुक्ति होना चाहती हो। जिससे कि मृतपति के साथ जो पत्नी के दाह होने की प्रथा है इसको हम अपने लिये उदाहरण नहीं बनाते। क्योंकि स्मृतियों में ब्राह्मणी के लिए मृत पति के साथ दाह होने का जबरदस्त निषेध किया हुआ है। यह प्रथा तो युद्ध आदि में पति के मर जाने पर पति के साथ जलकर मर जाना क्षत्राणियों से चालू हुई है। इस विषय को हमने अपने रचे हुये 'शास्त्रीय धर्म दिवाकर' इस ग्रन्थ में स्पष्ट कर दिया है। जिससे कि यह विपत्ति का धर्म है इसी से यह दृष्टान्त में उपयोगी नहीं है। इसीलिये हम इस दृष्टान्त को ग्रहण न करके और दृष्टान्त बनाते हैं वह इस प्रकार है। जैसाकि विष्णु भगवान आषाढ़ शुदी एकादशी को सो जाते हैं,

इसी से इस का नाम देवशयनी एकादशी है। कार्तिक शुदी एकादशी को विष्णु जी जागते हैं, इसी से इसका नाम हरिप्रबोधिनी एकादशी हैं। पत्नी का धर्म है पति के पीछे शयन करना तथा पति के पहले जागना। इसी से लक्ष्मी जी विष्णु जी के सो जाने के बाद सो जाती हैं। विष्णु जी के जागने से ग्यारह दिन पहले अमावस्या को जागती है; इसी से लोग, लक्ष्मी जी के स्वागत के लिये दीपावली अर्थात दीपकों की अवली (पंक्ति या लाइन) जगाते हैं। कोई इस रात को दीपावली कोई दीपमाला तो कोई इसे दिवाली कहते हैं। लोग अपने-अपने घर में लक्ष्मी जी की पूजा करते हैं। इस प्रकार पति के बाद भोजन करना और शयन करना यह आर्यों की संस्कृति है। किन्तु इसके विपरीत अब तुम मेरे से पहले ही मुक्ति रूपी शयन करना चाहती हो।

हे स्वामिन्। यदि मेरा ऐसा धर्म आपको विपरीत जान पड़ता है तो आप मेरा भी नम्र निवेदन सुन लीजिए। यह ऐसा है। मैं तो उस स्त्री को पतिव्रता मानती हूँ जो स्त्री अपने शरीर को कष्ट देकर भी योग्य पति को सुखी करने वाली है। यह स्त्री का धर्म है। जिससे कि मेरी मुक्ति हुए बिना आप मुक्त नहीं हो सकते। इसी से मैं आपसे पहले मुक्त होना चाहती हूं। जिससे कि आप सदा के लिए परमानन्द रूप सता संपन्न हो जाएं। अच्छा प्रिया जी। पहले तुम मुक्त हो जाओ यह धर्म आर्य-संस्कृति के मूलरूप वेद के अनुकूल ही है। प्रिया जी! अब तुम सच्ची पतिव्रता हो रही हो। क्योंकि तुमने आत्मपुराण के पूर्वोक्त श्लोकों के अनुसार, परम सम्पत्ति, परमगति, परमलोक और परमानन्द रूपी दीर्घ सुषुप्ति रूपी विदेहमुक्ति को श्रवण आदि साधनों द्वारा तथा ब्रह्मचर्य आदि साधनों द्वारा प्राप्त किया है। इसीसे अब तुम वास्तविक मुक्ति हो रही हो। जैसे